सिद्ध योग

संस्थापक: सम्पादक:
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, मवाई

- नान्यच्छुद्धो यो जयति अनन्त तोयमः ... १
- यौगिक व्यायाम और स्वास्थ्य (विशेष लेख) ... २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- सांख्ययोग के पच्चीस तत्त्व व उनकी साधना ... ५
  ब्रह्मचारी श्री रामलाल शर्मा
- चक्र (कविता) ... ८
  श्री अशोक 'व्याकुल'
- प्रसादे सर्व दुःखानाम् ... ९
  डा० श्री भगवतीशरण मिश्र
- महात्मा यीशु ... १४
  डा० श्री विजयसिंह
- पातञ्जलि योग-दर्शन सार-तत्त्व ... १६
  ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश
- एकाग्रता ... २०
  श्री विष्णु प्रसाद व्यास
- सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल (कविता) ... २६
  श्री रामसजीवन सिंह
- ऐसे दयालु हैं श्री महाप्रभु जी ... २७
  श्री केशव उपाध्याय
- सावधानी ही साधना है ... ३१
  श्री विजय शङ्कर उपाध्याय
- ईश्वर-प्रणिधान ... ३४
  श्री के० डी० उपाध्याय
- मन—आधा जड़, आधा चेतन ... ३७
  श्री बैजनाथ मेहरा
- वाजपेय विद्या ... ३८
  डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल
- मनोनिग्रह के आदर्श—तपस्वी सेरफिन ... ४२
  श्री अविनाशी महाराज
- पत्रं-पुष्पं-फलं तोयम् ... ४४

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

अक्टूबर १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया । इस अङ्क का ३ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री शिवगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाईं (फतहपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क ७	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं श्रीमच्छास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥	अक्टूबर १९८५

❀ नान्यच्छ्रेयो जगति अन्यत्र तपसः ❀

दुराराध्या स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो,
वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं,
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः॥

भावार्थ

घोड़ों के समान चञ्चल चित्त वाले राजाओं की आराधना करना कठिन काम नहीं है, परन्तु हमारी इच्छाएँ बड़ी हैं और ऊँचे से ऊँचे पदों की प्राप्ति में सदा लालसा लगी रहा करती है। वृद्धावस्था शरीर का नाश करती है और मृत्यु प्रिय प्राण का हरण करती है। इसलिये, हे मित्र! इस संसार में विवेकी पुरुष के लिये तप को छोड़कर और दूसरा मार्ग कल्याणकारी नहीं है।

हमारा विशेष लेख—

यौगिक व्यायाम और स्वास्थ्य

के योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

आयुर्वेद निदान के सिद्धान्तानुसार—

सर्वेषां रोगाणाम् निदान् कुपिता: मला:

अर्थात् सब प्रकार के रोगों की जड़ वात, पित्त, कफ आदि मलों की विकृति है। जिस समय मनुष्य के शरीर में वात, पित्त, कफ आदि अपनी यथार्थ स्थिति में नहीं रहते, उस समय शरीर में अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाया करते हैं। किन्हीं प्रकार के उपायों से मल दूषित न होने पावे तो मनुष्य का शारीरिक स्वास्थ्य अवश्य ही ठीक बना रहता है। मनुष्य के शरीर में सप्तम धातु वीर्य है। वीर्य ब्रह्म रूप है। उपनिषदों में ऐसे वचन मिलते हैं कि "वीर्यं तद्ब्रह्म" अर्थात् वीर्य ही ब्रह्म का स्वरूप है। दूसरे शब्दों में वीर्य शक्ति है। जिस मनुष्य के शरीर में वीर्य कायम रहता है और वह शरीर में व्यापक रूप धारण कर लेता है तो विद्युत प्रवाह की तरह शरीर के सभी स्नायु-मण्डल में पूर्ण प्रगति रखता है। स्नायु-मण्डल को दूषित नहीं होने देता, स्नायु-मण्डल का दूषित होना नाड़ियों में रक्त रस आदि का शुद्ध प्रवाह न होना दोषोंकी विकृति का एक मूल साधन है। जो व्यक्ति बाहरी रंग राग स्त्रियों के नृत्य थियेटर सिनेमा देखते रहते हैं, उनका मन कामुक बना रहता है और वे लोग बाहर की वेष-भूषा में ठीक-ठीक दिखलाई देते हैं पर अपने मनमें वासनिक चिन्तन करते रहते हैं और उनके मन में कामाग्नि धधकती रहती है। इसका परिणाम यह निकलता है कि सारे शरीर में व्यापक रहने वाला वीर्य नाभि-मण्डल में इकट्ठा हो जाता है और नाभि-मण्डल में इकट्ठा हो जाने पर किसी भी प्रकार उसको रोका नहीं जा सकता वह स्खलन होकर ही रहता है। चाहे वह प्रमेह का रूप धारण करले, स्वप्नदोष के रूप में जाता रहे या मनुष्य की अपनी अन्य किसी भी प्रकार की चेष्टाओं से उसका पतन हो, किन्तु पतन अवश्य हो जाता है। हमारे देश में प्राचीन पद्धति का अब निरन्तर अभाव ही अभाव दिखाई दे रहा है।

हमारे पूर्वज लोग गर्भाधान से लेकर पुंसवन तक सभी संस्कार बच्चों के कराया करते थे। मातायें सद्-शिक्षायें दिया करती थीं। गर्भिणी स्त्रियों को ब्रह्मचारियों की, वीर बहादुरों की व आत्मवान ऊँचे योगियों की कथायें सुनाई जाया करती थीं, इससे गर्भ में ही बच्चे पर उत्तम प्रभाव पड़ जाया करता था और जन्म ले लेने के बाद पिता अपने बालक का संरक्षण करते थे। वह अपने बच्चों की देखरेख करते

हुए छोटी ४-५ वर्ष की अवस्था में गुरुकुलों में छोड़ दिया करते थे। गुरुकुल जंगलों में हुआ करते थे एवं गुरुकुलों के शिक्षक पूर्ण आचारवान्, जितेन्द्रिय हुआ करते थे। वे लोग उन बालकों का शिक्षण किया करते थे और उनको योग्यतानुसार नैष्ठिक व्यायाम, योगासन, ऊर्ध्वरेतस, प्राणायाम आदि के अवस्थान का शिक्षण करते रहते थे। उन बालकों को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता था कि भोग किस वस्तु का नाम है। इन स्थितियों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बालकों का वीर्य शरीर में सदा सर्वदा व्यापक रहा करता था और उसके साथ-साथ ऊर्ध्वरेतस प्राणायाम आदि करने से मनुष्य के मस्तिष्क की ओर उसका स्वभावतः आकर्षण रहता था, जिससे वे लोग ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों के निर्णायक होकर दीर्घजीवी रहा करते थे। आजकल का समय इसके बिल्कुल विपरीत है। गर्भिणी स्त्रियों को उनके मनोरंजन के लिए नाच-कूद सिनेमा, थियेटर आदि दिखाये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप गर्भावस्था में ही बच्चों के ऊपर भोग भोगने के संस्कार पुष्ट हो जाते हैं। इसके बाद जन्म लेने पर छोटे-छोटे बच्चों को भी नाच-कूद दिखलाये एवं सिखलाये जाते हैं, जिसका परिणाम यह निकलता है कि वे लोग युवावस्था आने से पहले ही जीर्णत्व को प्राप्त कर लेते हैं और आजकल की सह-शिक्षा पद्धति ऐसे लोगों के लिए और भी विनाश का कारण बन जाती है। ऐसी अवस्था में ये लोग अपनी विभिन्न प्रकार की चिकित्सायें कराते हैं। औषधियाँ अपना परिणाम भी दिखलाती हैं, किन्तु आधार-भित्ति के क्षीण होने से यथार्थ लाभ नहीं हो पाया करता।

इस विषय में केवलमात्र यत्किंचित् या यही संकेत मैं कर देना चाहता हूँ कि साधक समुदाय को चाहिये कि वह किसी भी प्रकार से ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने का प्रयत्न करे और उसका सरलतम उपाय यौगिक व्यायाम है। यद्यपि संसार में व्यायाम की शिक्षा बहुत प्रकार से प्रचलित है, किन्तु यौगिक व्यायाम और उनकी शिक्षा-पद्धति विधिपूर्वक योगासन विबंध और मुद्राओं का कराना शरीर में वीर्य को अवश्य ही व्यापक प्रगति देने का कार्य करेगा, जिसके फलस्वरूप स्नायु-मंडल बिल्कुल भी दूषित नहीं होगा। रस और रक्त का ठीक वहन करेगा और स्वास्थ्य ठीक बना रहेगा। जैसे यौगिक चिकित्सा में मल विकृति को दूर करने के लिए यौगिक षट्कर्म नेति, धौति, नौलि, बस्ति आदि सभी क्रियाएँ विकृत मलों को बाहर निकाल करके घटशोधन का काम करती है। ये भी सब क्रियाएँ योग-साधना के अन्तर्गत की जा सकती हैं, किन्तु उससे पहले साधकों को चाहिए कि वे लोग योगाश्रमों में जाकर योगासन, बंध और मुद्राएँ समुचित रूप से शिक्षा पाकर अवस्थानुरूप प्राणायाम आदि का अभ्यास करें। जिसका फल यह निकलेगा

सांख्ययोग के पच्चीस तत्व तथा उनकी साधना

❀ ब्रह्मचारी श्री रामलाल शर्मा

भारतीय षट् दर्शनों में सांख्य एवं योग-दर्शन को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि दर्शन के सिद्धान्तों पर चल कर मनुष्य शीघ्र एवं अवश्य मोक्ष को पा जाता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसी सांख्य-योग का अवलम्बन लेकर परम तत्व को पाया है। सांख्य-दर्शन सर्व दर्शनों में प्राचीनतम् है जैसा कि कहा गया है—

"आदि विद्वाने निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षि रासुरये तत्र प्रोवाच।"

अर्थात् आदि विद्वान महर्षि भगवान कपिल देव जी ने करुणा करके आसुरि को इस दर्शन का उपदेश दिया था, इससे सांख्य दर्शन की गरिमा स्पष्ट है। सांख्य व योग को एक ही दर्शन के रूप में माना जाता है।

एकं सांख्यम् च योगं च यः पश्यति स पश्यति। यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते।

इत्यादि भगवान के वाक्यों से इन दोनों दर्शनों की मौलिक अभिन्नता का प्रमाण मिलता है। वस्तुतः सांख्य व योग एक ही दर्शन के सैद्धान्तिक व क्रियात्मक पहलू हैं। सांख्य-दर्शन सिद्धान्त परक है तथा योग-दर्शन क्रियात्मक पक्ष का है। योग-दर्शन के सिद्धान्त सांख्य सूत्रों पर आधारित हैं तथा सांख्य सूत्रों की सार्थकता योग सूत्रों से ही है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यह दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। उपनिषदों में भी सांख्य एवं योग अनेक स्थलों पर समस्त पद के रूप में व्यवहृत हुए हैं।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

कि स्नायुमण्डल दूषित होगा ही नहीं और उसके फलस्वरूप मल विकृति भी नहीं होगी और मल विकृति के न होनेसे रोग स्वाभाविक ही निर्मूल हो जावेंगे। सर्व साधारण के लिए यौगिक व्यायाम ही उनको स्वस्थ रखने का मूल साधन है। इसके अतिरिक्त शरीर में पैदा हुए रोग विकराल रूप धारण कर चुके हों, तो उनको चाहिए कि योग-साधन केन्द्रों में उनके अनुकूल क्रियाओं से अपनी चिकित्सा करायें अन्यथा सरलतम् यौगिक व्यायाम, योगासन आदि सर्व साधारण को पूर्ण हितकर और स्वास्थ्य को ठीक कर देने का मूल साधन है। साधक इस शिक्षा को पाकर ही लाभ उठायें। ●

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्य योगमभ्यसे ।

—गर्भोपनिषद

अन्यत्र भी—

तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं,
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद

उपरोक्त प्रमाणों से सांख्य योग की अभिन्नता अभिव्यक्त होती है। अतः योग मार्गावलम्बी के लिए यह आवश्यक है कि वह सांख्य सूत्रों को भी भली प्रकार से समझ लें।

सांख्याचार्यों का यह डिमडिम उद्घोष है कि इस दर्शन में वर्णित पच्चीस तत्वों का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य मोक्ष को पा जाता है। उनके अनुसार—

पञ्च विंशति तत्वज्ञो,
यत्र तत्र आश्रमे वसेत् ।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि,
मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थात् सांख्य-योग के पच्चीस तत्वों को जान लेने वाला चाहे वह जटाधारी हो, मुण्डन कराया संन्यासी हो चाहे शिखावाला ब्रह्मचारी हो, अवश्य मुक्ति को पा जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। सांख्य-दर्शन में एक सूत्र है—"ज्ञानान्मुक्ति" अर्थात् इन पच्चीस तत्वों के ज्ञान से मुक्ति मिलती है। यहाँ पर ज्ञान का तात्पर्य विवेक ज्ञान से ही है।

सांख्य योगोक्त पच्चीस तत्व इस प्रकार हैं—(१) पुरुष (आत्मा) मूल प्रकृति (अव्यक्त) महत्तत्व (बुद्धि तत्व) अहङ्कार, पांच तन्मात्रायें मन सहित एकादश इन्द्रियां तथा पञ्च महाभूत आते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ये पच्चीस तत्व हैं। इनमें से पुरुष न प्रकृति है न विकृति मूल प्रकृति, प्रकृति है। महत्तत्व, अहङ्कार व पञ्च तन्मात्राएँ प्रकृति विकृति दोनों हैं अर्थात् यह स्वयं किसी के द्वारा उत्पन्न भी होते हैं तथा दूसरों को उत्पन्न भी करते हैं। ग्यारह इन्द्रियां तथा पञ्च महाभूत केवल विकृति ही हैं। क्योंकि वे किसी को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु स्वयं दूसरे से उत्पन्न होते हैं। अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न किये जाते हैं। सांख्यकारिका की एक कारिका से यह स्पष्ट है—

मूल प्रकृतिरविकृति,
महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडकस्तु विकारो,
न प्रकृति न विकृति पुरुषः ।

श्रीमद्भगवद् गीता में भी इन तत्वों का वर्णन है—

भूमिरापोऽनलो वायुः,
खं मनो बुद्धि रेव च ।
अहङ्कारं इतीयं मे,
भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां,
प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीव भूतां महाबाहो,
ययेदं धार्यते जगत् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय स्कन्ध में भी इन तत्वों का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया गया है।

सांख्य-दर्शन में वर्णित इन पच्चीस तत्वों के साक्षात्कार का विधि-निरूपण योग-सूत्रों द्वारा बहुत सुविस्तृत रूप से हुआ है। सम्पूर्ण योग-दर्शन इन तत्वों के साक्षात्कार विधि-निरूपण की विस्तृत व्याख्या करता है।

सांख्य-योग के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान हमें तभी हो पाता है, जब चित्त (बुद्धि) उस पदार्थ के आकार की हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु ज्ञान के लिए चित्त की पदार्थाकारकारिता आवश्यक है। लौकिक वस्तु ज्ञान में यह तदाकारकारिता पूर्णरूप से न होकर आंशिक रूपमें होती है, क्योंकि बुद्धि रजोगुण तमोगुण से आच्छन्न होती है। परन्तु यौगिक तदाकारकारिता काल में सत्वगुण की प्रबलता के कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है।

योग-दर्शन में इस तदाकारकारिता के लिए समापत्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है। योग-दर्शन का यह विशिष्ट व प्रचलित शब्द है। इसे तद्रूप या तन्मयता भी कहते हैं।

उपरोक्त पच्चीस तत्वों में यह समापत्ति विषय भेद से ग्राह्य, ग्रहण तथा ग्रहीतृ तीन प्रकार का होता है। भगवान् पतंजलि देव ने समाधिपाद में एक सूत्र के द्वारा इसी ग्राह्य, ग्रहण ग्रहीतृ समापत्ति का वर्णन किया है—

क्षीण वृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्ति।

सूत्रार्थ यह है "श्रेष्ठ मणि के समान क्षीण वृत्ति (राजस-तामस) वाले तथा ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य विषयों में चित्त का उनके आकार को ग्रहण कर लेना समापत्ति है। इनमें से सर्व प्रथम ग्राह्य विषयक समापत्ति का वर्णन करते हैं ग्राह्य विषयक समापत्ति के अन्तर्गत सूक्ष्म तन्मात्राएँ व पञ्च महाभूत आते हैं। इन्द्रियाँ ग्राह्य विषयक समापत्ति में नहीं आती क्योंकि इन्द्रियोंसे इन्द्रियों के गोलक का ग्रहण न करके उनकी अतीन्द्रिय शक्ति का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार ग्राह्य विषयक समापत्ति दो प्रकार का हुआ स्थूल ग्राह्य विषयक (पंचभूत सम्बन्धी) तथा दूसरा सूक्ष्म तन्मात्र विषयक समापत्ति। स्थूल ग्राह्य विषयक समापत्ति को वितर्कानुगत समाधि के नाम से जाना जाता है। इसमें चित्त स्थूल महाभूतों के आकार वाला होकर स्थूल भूताकार भासित होता है। सूक्ष्म ग्राह्य विषयक समापत्ति को विचारानुगत समाधि कहते हैं। इस सूक्ष्म ग्राह्य समापत्ति में चित्त पञ्च तन्मात्राओं के स्वरूप का भासित होता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब साधक वितर्कानुगत समाधि के अन्तर्गत होता है, तब उसे पञ्च भौतिक दृश्य दिखाई देते हैं। जब वह विचारानुगत संप्रज्ञात में पहुँचता है, तब

दिव्य स्पर्श, दिव्य रसादि का साक्षात्कार करता है। ये तन्मात्राएँ ही इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। दिव्यादिव्य भेद से यह प्रत्येक दो प्रकार के होते हैं।

ग्रहण विषयक समापत्ति के अन्तर्गत इन्द्रियों को ग्रहण किया जाता है। इस ग्रहण विषयक समापत्ति के अन्तर्गत इन्द्रियों के अतीन्द्रिय स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है। मानव शरीर में इन्द्रियाँ ही देव हैं। 'द्योतनाद् देवाः' प्रकाशन करने से यह देव कहे जाते हैं। ग्रहण समापत्ति में इन्द्रियों के प्रकाशमय स्वरूप का दर्शन होता है। इस भूमिका में साधक को देदीप्यमान देवों के दर्शन हुआ करते हैं। इसमें साधक अत्यधिक आनन्द-अनुभव करता है, इसलिये इसे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

"गृहीतृ" विषयक समापत्ति का विषय अस्मितास्पद पुरुष ही है। "दृग्दर्शन शक्त्यो-रेकात्म तैवऽस्मिता।" द्रष्टा पुरुष व दर्शन-शक्ति बुद्धि के एकाकार जैसा भासित होना अस्मिता है। अस्मितानुगत पुरुष विषयक जो समापत्ति है, वह गृहीता विषयक समापत्ति है। सम्प्रज्ञात समाधि का विषय अस्मितास्पद पुरुष ही है। स्वरूपावस्थित पुरुष इसका विषय नहीं हो सकता।

ईश्वर, मुक्त पुरुष आदि में जो समापत्ति होती है, वह इसी गृहीतृ समापत्ति के अन्तर्गत है। मुक्त पुरुष को समापत्ति का विषय बनाने से साधक योगीका चित्त मुक्त पुरुष के ग्रहीता-कार का भासित होता है। एकाग्र भूमि में चित्त के द्वारा जिस भी वस्तु का ध्यान हो सकता है, इन्हीं तीन प्रकार की समापत्तियों के अन्तर्गत आ जायेगा। कारण कि ग्राह्य ग्रहण और ग्रहीता को छोड़कर कोई भी व्यक्त भाव पदार्थ नहीं है, जिसका ध्यान हो सके।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि से होने वाली निर्विचार समापत्ति के सिद्ध होने पर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। तदनन्तर ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है, जिससे विवेक ख्याति प्राप्त होती है, जो पर-वैराग्य का हेतु है—

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा पर-वैराग्यम्

पर-वैराग्य से कैवल्य लाभ अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार सांख्य-योग में वर्णित पच्चीस तत्वों का साक्षात्कार करके "सत्व पुरुषाऽन्य-ताख्याति" प्रकृति पुरुष का अलग-अलग ज्ञान होता है, जिससे साधक मुक्त हो कैवली-भाव में स्थित रहता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को—

यदि योग्याः प्रभुर्ध्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।

इस प्रकार की भगवान् से की गई प्रतिज्ञा को अवश्य-अवश्य पूरा करना चाहिए।

—× ×—

चक्र

श्री अशोक 'व्याकुल'

सन्ध्या की
अरुणिम आभा-तल
फहराकर अपने धूम-केश
लेटी थी एक ग्राम-बाला
पास के पानी के दर्पण में—
अपना मुखड़ा देख रही थी ।
सम्भवतः सोच रही थी—
जब प्रियतम आयेगा ।
किन्तु पूँछता है,
मेरा मुख जाने क्यों ?
कमलों जैसी अपनी आँखें—
क्या उस पर दुष्कृत्यों के
हैं बहुत दाग—
किन्तु चाहे हों कुछ भी,
प्रियतम के सम्मुख
मुझे अपना—
निर्मल स्वरूप रखना होगा ।

अपना सारा कलुष मुझे,
तारों के, चन्दा के,
शीतल प्रकाश के,
नीचे रहकर धोना होगा ।
फिर मिलकर प्रियतम से
दिवस परीक्षा में—
बन स्वर्ण मुझे तपना होगा ।
तब,
आकर मेरा निर्माता
मुझको आभूषित कर देगा ।
जग के कवियों में,
मेरे ही स्वर भर देगा ।
और तभी
मेरे,
प्रियतम से मिलने के क्रम का
एक चक्र पूरा होगा ।

अमृत विन्दु

यदि वस्तु की इच्छा पूरी होती हो तो उसे पूरी करने का प्रयत्न करते और यदि जीने की इच्छा पूरी होती हो तो मृत्यु से बचने का प्रयत्न करते, परन्तु इच्छा के अनुसार न तो सब वस्तुएँ मिलती हैं और न मृत्यु से बचाव ही होता है ! —श्रुतिसार

प्रसादे सर्वदुःखानाम्

❀ डा० श्री भगवतीशरण जी मिश्र

यह संसार दुःखमय है। योगदर्शन में लिखा है कि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।
(पा० यो० द० २/१५)

अर्थात्—'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं।'

संसार दुःखों का जंजाल है। इसमें दुःखों की सीमा नहीं है। अनेक प्रकार की आधि-व्याधियों एवं शोक-चिन्ताओं से मनुष्य ग्रस्त है अतएव दुःखी है। मनुष्य स्वतः मननशील या विचार-प्रधान प्राणी है, अतः वह दुःखों से निवृत्ति-हेतु निरन्तर प्रयत्नशील होता चला आया है। दुःखों से छुटकारा के बिना मनुष्य बेचैन बनकर रहना नहीं चाहता। पर प्रश्न यह है कि दुःखों से छुटकारा मिले तो कैसे मिले! हम संसार के प्राणी हैं और संसार में रहते हैं। संसार दुःख सागर है। दुःख सागर में रहकर कोई कैसे सुखी हो सकता है।

प्रश्न जटिल है, पर शास्त्रों ने इसका समाधान किया है। सर्वशास्त्रमयी गीता का कहना है—

प्रसादे सर्वदुःखानाम्
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(२/६५)

अर्थात्—'अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके (शुद्ध अन्तःकरण वाले कर्मयोगी या साधक के) सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रबुद्ध चित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही भली-भाँति स्थिर हो जाती है।'

प्रसन्नचेता दुःखों के निवारण में समर्थ होता है। प्रसन्नचेता बनने का उपाय है मन और इन्द्रियों को वश में करके कर्तव्य कर्मों को कर्तव्य बुद्धि से करते जाना और अनासक्त भाव बनाये रखना। यह सब अभ्यास से सम्भव है। केवल मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लेने का प्रयास कर लिया जाय तो आगे का पग स्वयं प्रशस्त हो जाता है। परार्थ अथवा स्वकर्तव्य विहित कर्मों को अनासक्त भाव से करने पर मनुष्य उन कर्म-फलों के बन्धन में नहीं आने पाता जो (बन्धन)

जन्म-मरण रूपी दुःख का मूल कारण होता है।

संसार तो दुःखमय है ही, पर उसमें रह-कर सच्चिदानन्द परमात्मा से योग कर लेने पर संसार की दुःखमयता अनुभूत नहीं होती और परमात्मा की आनन्दमयता का अनुभव होने लग जाता है। इसी स्थिति को उपर्युक्त भगवद् वाक्य उजागर करता है।

यह जीव भी आनन्दमय परमात्मा का ही अंश है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

ममैवांशो जीवलोके
जीवभूतः सनातनः ॥
(गीता १५/७)

अर्थात्—'इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही प्रकृति में स्थित, मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है।

जब परमात्मा आनन्दमय हैं तो उनका अंश जीव को भी आनन्दमय ही होना चाहिये पर माया अथवा प्रकृति के संसर्ग से उसे दुःखानुभव होता है। इस अनुभव के लिये उपर्युक्त भगवद्वचन का सहारा लेकर सांसारिक विषयों की आसक्ति से मन को हटाने का अभ्यास निरन्तर करना चाहिये। उस अभ्यास से बुद्धि पर्यवसित होकर आनन्दकन्द सच्चिदानन्द की दिशा में स्थित हो जाती है और संसार के विषम दुःखदावानल के संताप से प्राणी सुरक्षित हो जाता है। मूल बात है मन बुद्धि, बुद्धि की पर्यवसिति। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि मायिक सम्बन्ध को धीरे-धीरे ढीला किया जाय और अन्ततः उसे त्याग दिया जाय। माया का पर्दा ज्यों ही हटा कि आनन्दमय प्रभु का दर्शन हुआ। फिर तो दुःख की अत्यन्त हानि (अभाव) सुतरां सिद्ध है। यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि दुःख का मूल कारण है माया मूलक कामना या वासना। कर्म-फलों में आसक्ति (अत्यन्त ममत्व) हटा देने पर कामना समाप्त हो जाती है और तब चित्त स्वच्छ, प्रसन्न हो जाता है। फिर तो दुःखानुभव का प्रसङ्ग ही समाप्त अथवा समाप्त-प्राय: हो जाता है और चरम लक्ष्य की सिद्धि दिशा में मनुष्य प्रगति कर जाता है।

बुद्धि की परिष्कृति पर भगवान ने गीता में बहुत बल दिया है। बुद्धि के परिष्कार पर ध्यान न देने से सुख-दुःख की बात तो अलग, सम्पूर्ण विनाश की भी स्थिति आ सकती है। बुद्धि के नष्ट होने से विनाश का परिणाम गीता सूचित करती है—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' [गीता २/६३]। यह उक्ति उसी विनाश की दिशा का संकेत करती है। भगवान् ने बुद्धि का स्थान इन्द्रियों और मन के ऊपर रखा है, केवल आत्मा ही बुद्धि से ऊपर है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु-
रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो
बुद्धेः परतस्तु सः ॥
[गीता ३/४२]

'इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन इन्द्रियों से परे मन है, मन से भी परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।' आत्मा से अवर बुद्धि है। उसका निर्मलीकरण नितान्त आवश्यक है, क्योंकि बुद्धि को परिष्कृत कर देने पर आत्म साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। अपरिष्कृत बुद्धि सांसारिक दुःखों की उत्पादिका होती है।

वस्तुतः सुख और दुःख कोई किसी को देता नहीं, प्रत्युत हमारी बुद्धि ही हमारे सामने सुख-दुःख का द्वन्द्व खड़ा करती है। यही कारण है कि कोई स्थिति किसी व्यक्ति के लिए दुःखदायी हो सकती है और वही किसी के लिए सुखदायी। धन-दौलत का चोरों द्वारा हरण कर लिया जाना किसी भौतिकवादी के लिये महान् कष्टकर हो सकता है, परन्तु वह किसी वीतरागी के लिये महान् सुख का भी कारण हो सकता है कि 'चलो, माया का बन्धन कटा, अब ठीक से हरिभजन होगा।' यह बात केवल हमारे ही धर्म और साहित्य में हो, ऐसी बात नहीं। अंग्रेजी वाले भी कहते हैं—कोई चीज अच्छी बुरी नहीं है। हमारे विचार ही इसे वैसा बनाते हैं—'नथिंग इज गुड आर बैड आफ्टर थाट्स मेक इट सो।' विचार बुद्धि-प्रसूत ही तो होते हैं।

यह प्रकारान्तर से कहा है गया कि व्यवस्थित बुद्धि प्रसन्नता का कारण होती है और दुःख के विनाश में सहायिका सिद्ध होती है। किन्तु गीता के दूसरे अध्याय में जिस 'प्रसाद' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह मात्र प्रसन्नता का पर्यायवाची नहीं है। 'प्रसाद' का तात्पर्य अन्तःकरण की उस निर्मलता अथवा विशुद्धता से है जिसकी प्राप्ति पर वह स्वयं ही प्रफुल्लित और प्रसन्न हो जाता है तथा बुद्धि भी व्यवस्थित हो जाती है। प्रश्न यह है कि 'प्रसाद' की यह स्थिति कैसे प्राप्त की जाय। गीता ने इस स्थिति की प्राप्ति के उपाय का अधिक खुलासा निम्नलिखित श्लोक में किया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु
विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा
प्रसादमधिगच्छति ॥

अर्थात्— 'राग द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष 'प्रसाद' की स्थिति को प्राप्त करता है।'

यहाँ इस आधार पर 'प्रसादे सर्वदुःखानां' को ध्यान में रखते हुये अगर 'प्रसाद' के द्वारा दुःख का विनाश करना है तो निम्नलिखित को भी सुनिश्चित करना पड़ेगा—

(१) आत्मा की स्वाधीनता अथवा आत्मा का माया-मोह आदि के बन्धन में नहीं होना। (२) राग-द्वेष से रहित होना तथा (३) इन्द्रियों का अपने अधिकार में होना। उपर्युक्त श्लोक के ठीक बाद ही-'प्रसादे सर्व-दुःखानाम्' से आरम्भ होने वाला श्लोक आता है। अतः गीता के द्वितीय अध्याय के ६४ वें श्लोक का बहुत महत्व है, क्योंकि 'प्रसाद' की जिस स्थिति की प्राप्ति के पश्चात् दुःख की समाप्ति हो जाती है, उस स्थिति का प्राप्ति सहायक ही यह श्लोक है, जिसमें स्वाधीन अन्तःकरण तथा राग-द्वेष से रहित नियन्त्रित इन्द्रियों को प्रसाद की स्थिति का कारण बताया गया है।

राग-द्वेष को गीता ने स्थान-स्थान पर निन्द्य बताया है। 'नाभिनन्दति' से लेकर 'वीतरागभयक्रोधः' के सदृश उक्तियां राग-द्वेष के विरोध में कही गयी है। जहां तक आत्म-स्वातन्त्र्यका प्रश्न है, गीता से लेकर उपनिषदों तक में इसकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है। इन्द्रियों को अधिकार में रखने की अनिवार्यता गीता एवं उपनिषदों के अलावा हमारे अन्य सभी आर्ष-ग्रन्थों में भी आयी है। गीता ने तो स्पष्ट कहा है कि जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों से अलग हैं अर्थात् विषयों के वश में नहीं हैं, अपने वश में हैं उसी की बुद्धि स्थिर है—

तस्माद्यस्य महाबाहो
निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२/६८)

गीता के द्वितीय अध्याय के ६१ वें श्लोक में यह स्पष्ट किया है कि जिसकी इन्द्रियां वश में हैं उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि
तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रसन्नता के लाभ अथवा दुःख के विनाश के लिये जो अन्तिम शर्त है, वह यह है कि इन्द्रिय निग्रह किया जाय। इसके लिये आवश्यक है कि हम आत्म स्वरूप का परिचय प्राप्त कर आत्मोन्मुख हों-विषय रस को छोड़कर आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त हों।

गीता में भगवान् ने ठीक ही कहा है कि बुद्धि से भी परे अर्थात् उससे भी सूक्ष्म और बलवान् अपनी आत्मा को पहचान कर ही उसी के द्वारा कामरूपी शत्रु का विनाश करो—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा
संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो
कामरूपं दुरासदम्॥
[३/४३]

कामरूपी शत्रु के विनाश के बिना—कामना के सर्वथा त्याग के बिना प्रसन्नता, वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता—

संसार का क्लेश कष्ट नहीं मिट सकता। सत्य तो यह है कि इन्द्रिय पारवश्य से रहित होकर आत्मवान हो जाय।

एक स्वाधीन आत्मा इस कारण हमारे सभी दुःखों के विनाश और हमारे आह्लाद का कारण बनती है, क्योंकि वह परमात्मा के बहुत समीप है, बल्कि उसमें परमात्मा का ही वास है, तत्त्वतः तादात्म्य है। ईशावास्योपनिषद् की उक्ति 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्' से लेकर गीता की उक्तियाँ—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' [गी० १५/१५] तथा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' [गीता १८/६१] एवं 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः' [गीता १०/२०]—उपर्युक्त इसी तथ्य को बार-बार दोहराती है।

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि सांसारिक दुःख से त्राण का एक उपाय है और वह है स्वयं की आत्मा का स्वरूप बोध। इस स्वरूप बोध का एक प्रमुख उपाय है श्रद्धा और विश्वास का संबल। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है कि इनके बिना अपने ही अन्दर स्थित उस सार्वभौम सत्ता का साक्षात्कार असम्भव है—

याभ्यां विना न पश्यन्ति
सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।

निष्कर्ष यह कि—'इन्द्रिय संयम से कामना का त्याग करते हुये श्रद्धा और विश्वास का संबल लेकर आत्म बोध की दिशा में बढ़ना चाहिये, यही प्रसाद-प्राप्ति का सुगम श्रेष्ठ उपाय है। और इसीसे सभी दुःखों की निवृत्ति हो सकती है।

—कर्मफल—देश काल पात्रानुसार—

आप एक बीज बोते हैं या एक वृक्ष लगाते हैं तो क्या वह एक ही फल देता है। जितना लगाया जाय उतना ही मिले तो कोई व्यापार क्यों करे! और कारखाने क्यों स्थापित करे। कर्म का यह भी नियम है कि अनुकूल संयोग मिलते जायें तो वह अपने सैकड़ों गुने फल देता है। प्रतिकूल इसके अगर अनुकूल संयोग का अभाव हो तो फल बहुत कम होता है। या बिल्कुल नहीं होता है। सभी संयोग विपरीत होने पर बोया हुआ बीज भी नष्ट हो जाता है। यही बात धर्म-अधर्म रूप सभी कर्मों के सम्बन्ध में है।

अनुकूल संयोग क्या? देश काल पात्र तथा कर्त्ता का भाव एवं कर्म करने की विधि ये सब कर्मफल को प्रभावित करते हैं। जिस खेत में बीज बोना है वह उपजाऊ होना चाहिये। भूमि अगर ऊसर है तो अन्य सब संयोग व्यर्थ जावेंगे। इसी प्रकार धर्म या अधर्म कहाँ किया गया उस स्थान का महत्व है। यही कारण है कि तीर्थों में, आश्रमों में, देवस्थानों में, किये गये दान-पुण्य का अधिक फल होता है। ऐसे ही यदि इन स्थानों पर पाप किया तो वह भी अधिक कुफल देने वाला होता है। कालका भी ऐसा ही अपना महत्व है। उपयुक्त काल पर न बोने पर जैसे बीज वृक्ष नहीं उग पाते वैसे ही उपयुक्त समय पर उपयुक्त पात्र को दान न देना भी फलदायी नहीं होता है।

सिद्धयोग के अनुवर्ती—

महात्मा यीशु

— डा० श्री विजयसिंह

ईसा सतगुरु की शरण में—

यीशु जिसका अर्थ है पवित्र उद्धारकर्ता। शैशवावस्था से ही यीशु का धर्म की ओर गाढ़ा झुकाव हो गया जबकि वह मात्र बारह वर्ष का ही है। एक घटना उसके अन्तःकरण की बनावट का परिचय देने वाली सिद्ध हुई। बालक यीशु अपने माता तथा अन्य परिजनों के साथ पर्व मेले में येरूसलिम गया हुआ है। पर्व की समाप्ति पर सभी दूर-दूर से आये लोग अपने-अपने घरों को लौटने लगे हैं। यीशु के माता-पिता भी लौट रहे हैं। जब उनका ध्यान यीशु की ओर जाता है, वे देखते हैं कि लड़का साथ नहीं है। सोचते हैं, शायद परिचितों के साथ आगे बढ़ गया होगा। वे इसी धारणा से एक दिन की यात्रा तय कर चुके। मार्ग विश्राम स्थल पर जब अपने परिचितों के पास बालक को नहीं देख पाते हैं, तो वे घबरा उठते हैं। दुःश्चिन्ताओं से घिर उठते हैं तथा दूसरे दिन सुबह पुनः येरूसलिम को लौट पड़ते हैं। तीसरे रोज वहाँ पहुँचकर क्या देखते हैं कि—यीशु पुरोहितों के बीच बैठा हुआ है। वह उनसे धर्म-जिज्ञासा करता है तथा उनकी व्याख्याओं को मनन करता है। यीशु को पाकर माँ-बाप हर्षित हुए और पूछा—बेटा! तुमने हमारे साथ ऐसा क्यों किया? तुम्हारे लिए हम कितनी वेदना उद्वेग को सहते हुए आये हैं। परन्तु उस आत्मान्वेषी बालक का उत्तर कितना मार्मिक था। वह बोला—यह क्या! आप लोग हमें क्यों खोज रहे थे? आपको ज्ञात नहीं था कि मैं अवश्य अपने पिता (ईश्वर) के घर (मन्दिर) पर ही होऊँगा। बालक यीशु के अन्तःकरण में व्याप्त वैराग्य, ईश्वरनिष्ठा इस घटना में झलकती है। यीशु जब प्रत्यक्षवान योगी थे। वे जन्म से ही ऐश्वर्य-मण्डित थे, परन्तु समय के साथ ही उनकी अन्तर्निहित शक्तियाँ प्राकट्य में आती दिखाई देती हैं।

यीशु के बारह से तीस वर्ष के मध्य की कोई घटना बाइबिल में वर्णित नहीं है। आपने तीसवें वर्ष में योहन से उपदेश ग्रहण किया है। यीशु की गुरु-शिष्य परम्परा पर अगाध निष्ठा है। उन्होंने अपने उत्तरवर्ती जीवन में इसी प्रक्रिया द्वारा सद्धर्म का प्रचार किया। उनके मन में अपने गुरु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम भावना है। वे अपने शिष्यों से कहा करते थे—"सच पूछो तो स्त्री की सन्तान में योहन से बड़ा कोई नहीं है और मानना चाहो तो वही है एलियास (अतीत में हुए परम सिद्ध पुरुष जिनका ही अवतार योहन के रूप में यीशु के समय में हुआ) जिनके आने की बात कही गई थी।"

"शिष्य का अपने गुरु जैसा और दास का अपने स्वामी जैसा हो जाना ही बहुत है।"

महात्मा योहन विरक्त महापुरुष थे। वे यहूदिया के उजाड़ पर्वतीय प्रदेश में निवास करते थे। शहद, कन्दमूल खाकर तपस्यारत रहा करते थे। उनका समाज में आना-जाना नहीं होता था। जो मुमुक्षु उनके पास अपने पाप-कर्मों की सच्ची अनुतापना प्रकट करता तथा दीक्षा-प्रार्थी होता, उसे वे यर्दन नदी में स्नान कराकर उपदेश दीक्षा प्रदान किया करते थे।

त्रिकालदर्शी महात्मा योहन को यीशु की भावी प्रतिभा का ज्ञान था। वे जानते थे कि समय आने पर यीशु उनसे ही दीक्षा प्राप्त कर बहुत विस्तार के साथ जीवों के उद्धार एवं सद्धर्म की स्थापना का कार्य करेंगे। जब तीसवें वर्ष में यीशु महात्मा योहन के पास दीक्षा ग्रहण करने पहुँचे तो महात्मा योहन ने कहा—मुझे तो आपसे दीक्षा प्राप्त करना चाहिए और आप मेरे पास आये हैं। इस पर यीशु ने विनम्रतापूर्वक कहा—यह अब ऐसा ही होकर रहे। हमें इसी प्रकार समस्त धर्म पूरा करना उचित है। इस बात से मानव-मात्र को परम गति प्राप्त करने हेतु सद्गुरु शरणागति एवं प्रपन्नता की अपरिहार्यता प्रकट होती है।

उपर्युक्त कथा के संदर्भ में कुछ बातें विचारणीय हैं। योगी अपने चित्त की त्रिगुण प्रवृत्तियों को हटाकर अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करता है तथा अपने आपको ईश्वर से अभेद-अभिन्न समझता है। यहाँ देश-काल बाधा नहीं पहुँचाते। भले ही कोई यहूदी, पारसी, हिन्दू अथवा मुसलमान या ईसाई हो, यदि व्यक्ति आस्थावान है, सच्चा जिज्ञासु है तो ऐसे व्यक्तियों को योगोपदेष्टा योग्य सच्चे आचार्य अपनालिया करते हैं। इससे उनमें योग-शक्ति का वपन और विस्तार साधनाक्रम अथवा कृपा-क्रम से होने लगता है। दीक्षा का यही अर्थ भी है, जिसमें ज्ञान, धर्म, शक्ति को दूसरे में प्रदान किया जाय वह क्रिया ही दीक्षा है।

'दियते ज्ञानं क्षीयते तदावरणम् च ।'

मात्र सिद्ध सद्गुरु द्वारा ही सम्पादित होना सम्भव है। सिद्ध भी दो प्रकार के बताये गये हैं। साधना-सिद्ध व स्वयं-सिद्ध। जो अनादि काल से सिद्ध हैं वे स्वयं-सिद्ध हैं तथा जिन्होंने साधना द्वारा ईश साक्षात्कार प्राप्त किया है, वे साधन-सिद्ध हैं। दोनों प्रकार के सिद्ध अपनी कृपाशक्ति का संचरण शुद्धात्मा में करके ही दीक्षा प्रदान करते हैं। वस्तुतः विचार करने पर ईश्वर ही प्रकर्षतया अनादि महासिद्ध है और सिद्धयोग भी दाता है। सिद्धों की कृपा-शक्ति के संचरण से व्यक्ति में अचानक जो आभ्यन्तरिक परिवर्तन व आध्यात्मिक विकास होने लगता है, इसी को सिद्धयोग की संज्ञा दी जाती है। भगवान् पतञ्जलि जी ने—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

कहकर ईश्वर को ही सद्गुरु बतलाया है। वैसे भी—

श्री पातंजलि योग-दर्शन सार-तत्व

✿ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

योग-दर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि देव जी हैं। योग-दर्शन में चार पाद (अध्याय) और चारों पादों को मिलाकर योग-दर्शन में केवल १९५ सूत्र हैं। इसमें प्रथम समाधि पाद में ५५, द्वितीय साधन पाद में ५१, तृतीय विभूति पाद में ५५ और चतुर्थ कैवल्य पाद में ३४ सूत्र हैं।

योग-दर्शन के प्रथम पाद में योग का स्वरूप योग का उद्देश्य, वृत्तियों के भेद और लक्षण, उनका उपाय, प्रकार, भेद और फल आदि का वर्णन किया गया है। जो लोग जन्म या संस्कारवश योग के उपयुक्त ज्ञान और वैराग्य की स्वाभाविक भावना वाले हैं (विदेह प्रकृति लय अथवा तीव्र संवेग वाले हैं), उनके लिये शीघ्र ही समाधि अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे लोग बिना किसी विशेष साधन के ही ईश्वर का ध्यान, आराधना करते हुए उसके स्वरूपको जान लेते हैं और उसमें स्थित हो जाते हैं। ऐसे लोग चाहे नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि का अभ्यास करें चाहे न करें, वे अपनी अन्तःकरण की शुद्धता और निष्काम वृत्ति द्वारा

(पिछले पृष्ठ का शेष)

गुरोर्यस्यैव संस्पर्शात परानन्दोऽभी-जायते।

के सिद्धान्तानुसार जिसके स्पर्श मात्र से व्यक्ति को उद्भासित हो उठे, उन्हें सद्गुरु मानना चाहिए।

महात्मा योशु "भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम्" प्रकार के भव प्रत्यय वाले योगी थे। उनमें जन्म से ही पूर्व साधना का फल परिपूरित था। उधर उनके गुरुदेव महात्मा योहन भी इसी कोटि के महापुरुष थे। बाइबिल के पुरातन आख्यानों में योहन व योशु के पूर्व चरित्रों की ओर सांकेतिक वर्णन किया गया है। योहन पूर्व काल के चमत्कारिक नबी एलियास थे तथा अन्य महात्मा इसैयस अपने जीवन काल में कई बार लोगों से कह चुके थे कि ईश्वर भविष्य में एक उद्धारकर्ता योशु को पृथ्वी पर भेजेंगे। यह सब बातें महात्मा योशु को भव-प्रत्यय वाले योगी सिद्ध करने वाली ही हैं। योशुने अपने उत्तरवर्ती काल में शक्ति-पात विधि से ही अनेक शिष्यों को दिव्यता प्रदान की है। वे शिष्य भी आगे चलकर मानव कल्याण के प्रेरक बन सके।

जिस समय महात्मा योहन ने योशु को दीक्षा दी, उसी समय तत्काल ईश्वरीय परम-ज्योति योशु पर मंडरा उठी। आकाशवाणी हुई—"यह मेरा अति प्रिय पुत्र है, इससे मैं प्रसन्न हूं।"

योग के अन्तिम लक्ष्य असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि तक पहुँच जाते हैं। समाधि पाद के २५ और २६ सूत्रों में यही सन्देश दिया है कि ईश्वर ही निरतिशय ज्ञान (सर्वज्ञता) का भण्डार है। वही ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि त्रिदेवों का भी गुरु है। इसलिये उसी का प्रणिधान (भक्ति) ध्यान से परमात्म-तत्व की प्राप्ति हो जाती है, योगी कैवल्य की स्थिति तक पहुँच जाता है।

दूसरे साधनपाद में क्रियायोग तथा क्लेश कर्म, विपाक आदि और उनका दुःख, हेय, हेतु, दुःख और हानोपाय की व्यूह चतुष्टय का वर्णन किया गया है। मध्यम अथवा साधारण श्रेणी के साधकों के लिए, जो जन्म से ही सामान्य दर्जे का जीवन जी रहे हैं, संसारी मनुष्य की भाँति जो विविध वासनाओं, राग-द्वेष आदि में ग्रस्त हैं, उनके लिए क्रियायोग का मार्ग बताया गया है, जिससे उनका क्रमशः आत्म-विकास होता चला जाय, चित्त की मलिनता दूर होती जाय और अन्त में चित्त पूरी तरह से शुद्ध निर्मल होकर वे परमात्म-तत्व को जान सकने के अधिकारी हो जावें।

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधान क्रियायोगः।

अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है। जिनके अंदर संयम और वैराग्य नहीं है, उन्हें तप द्वारा मन तथा इन्द्रियों को संयमित करना चाहिए। स्वाध्याय के द्वारा धर्म के तत्वों को समझकर विवेक और बुद्धि को शुद्ध और सूक्ष्मदर्शी बनाना चाहिए तथा ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को आत्म-समर्पण द्वारा अपने समस्त कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित करने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार कुछ समय तक अभ्यास करने से मानसिक कलुष दूर होकर अष्टांग-योग साधन करने की पात्रता उनमें आ जायेगी। जब तक मानसिक वृत्तियाँ शुद्ध न हों तब तक योग की अन्य क्रियाओं का विशेष लाभ नहीं मिलता। इस प्रकार इस पाद में योग-मार्ग में आने वाले अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांचों क्लेशों को बतलाकर उनको दूर करने के साधनों का ज्ञान कराया है। साथ ही कर्मों के भेद, कारण और स्वरूप को भी समझाया है। जिससे उनका उचित रूप से विपाक होकर अध्यात्म मार्ग में ठीक प्रकार से प्रगति हो सके। जब तक मनुष्य कर्मों के बन्धन में रहेगा, तब तक वह योग के अन्तिम लक्ष्य समाधि और मोक्ष को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अष्टांग योग में सर्व प्रथम यम-नियम का साधन बतलाया गया है। उसके पश्चात् आसन और प्राणायाम का अभ्यास बतलाया गया है, जिससे साधक का शरीर मल रहित व्याधि रहित होकर शक्तिमान होकर आगामी योग क्रियाओं को स्वस्थ, निरोग रहते हुए उचित रूप से सम्पन्न कर सके। इस प्रकार

योगासनों द्वारा शरीर को दृढ़ में स्थित करके प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों और मन को संयमित करके, जिससे धारणा, ध्यान और समाधि के आगामी तीन अंगों को सफलतापूर्वक साधन किया जा सके।

तीसरे विभूति पाद में योग का अन्तरङ्ग, परिणाम संयम के द्वारा विभूतियों की प्राप्ति और विवेक से उत्पन्न ज्ञान का वर्णन किया गया है। विभूति पाद में धारणा, ध्यान और समाधि की व्याख्या करके तथा उनमें तीन प्रकार के परिणाम दिखाकर उन विभूतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये विभूतियां संयम बल के आधार पर समाधि अवस्था प्राप्त योगी को उपलब्ध हो जाती है अथवा हो सकती है। जो साधक योगके आठों अंगों का सम्यक् प्रकार से साधन करके समाधि अवस्था पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त कर लेता है, ऐसे योगी के लिए संसार का कोई भी काम कठिन या असम्भव नहीं रहता। ऐसा योगी समस्त प्राकृतिक, दैवी और आध्यात्मिक शक्तियों का स्वामी बन जाता है, चमत्कार तो उन शक्तियों की तुलना में एक तुच्छ चीज है। वास्तव में योगी परमात्म-तत्व की समाधि द्वारा साक्षात्कार करके उसी के समान अर्थात् परमात्मा के समान सामर्थ्यवान बन जाता है। उसे सब प्रकार का ज्ञान व शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाती हैं। लेकिन सच्चा योगी न तो इन विभूतियों को अपना लक्ष्य समझता है और न इनकी तरफ कभी आकर्षित होता है। योग-साधन का अन्तिम लक्ष्य तो सब प्रकार के कर्म-बंधनों से छुटकारा पाकर कैवल्य पद को प्राप्त करना है। विभूतियों का प्रयोजन पाद के अन्तमें यह बतलाया गया है कि उससे साधक आत्मा-परमात्मा, विश्व के रहस्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय और इससे भौतिक सुखों या सांसारिक वैभवकी निस्सारता और क्षणिकता को ठीक तरह से जानकर इनकी तरफ फिर कभी आकर्षित न हो। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है। यह अवस्था चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर होती है। साधक जब विश्व के समस्त रहस्यों और मनुष्य की अन्तः बाह्य अवस्था का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन करने लगता है, तब उसके समस्त कुसंस्कार रजोगुण तथा तमोगुण के मल विक्षेप पूर्णतः दूर होकर केवल सत्-स्वरूप ही रह जाता है। इसी को 'स्वरूप में स्थित' कहा गया है।

चतुर्थ कैवल्यपाद में मुक्ति के योग्य चित्त, परलोक-सिद्धि, बाह्यार्थ सद्भाव-सिद्धि, चित्त-व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि, धर्म मेघ-समाधि जीवन्मुक्ति और विदेह-कैवल्य का वर्णन किया गया है। इस पादमें बताया गया है कि यद्यपि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप से मनुष्य के शरीर, इन्द्रियों और चित्त में परिवर्तन होने से विलक्षण शक्तियों की उत्पत्ति हो जाती है पर इन

उसके द्वारा कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए केवल ध्यान (समाधि) द्वारा होने वाले परिवर्तन ही फलप्रद है, क्योंकि औषधि मन्त्र आदि के द्वारा विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती है, किन्तु मनुष्य के चित्त में पुराने और नये कर्मों के संस्कार शेष बने ही रहते हैं। जो मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र से नहीं निकलने देते, लेकिन ध्यान, समाधि द्वारा कर्म संस्कार समाप्त हो जाते हैं और तब मनुष्य यथार्थ रूप से कैवल्य या मुक्ति का अधिकारी हो जाता है, क्योंकि कर्म का उद्देश्य तो सांसारिक भोग अथवा स्वर्ग की प्राप्ति ही है। परन्तु इन दोनों की कामना योगी को नहीं होती, क्योंकि वह तीनों गुणों के प्रभाव से परे हो जाता है। इसलिये उसके अन्दर से समस्त कामनाओं का अभाव हो जाता है। निष्काम भाव से किये हुए योगी के कर्म-बन्धन पैदा नहीं करते। इस प्रकार योगी निज स्वरूप में अवस्थित होकर मुक्त पुरुष बन जाता है।

योग-दर्शन का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को दुःख-सुख रूप कर्मों के बन्धन और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाकर आत्म-कल्याण का सीधा सच्चा और क्रियात्मक मार्ग-दर्शन कराना है। यही कारण है कि योग-दर्शनमें अन्य शास्त्रों की तरह किसी दूसरे सिद्धान्तों के खंडन मंडन को तनिक भी स्थान नहीं दिया गया है, वरन् संक्षिप्त शब्दों में अपना मन्तव्य कहकर साधन की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु जिज्ञासुओं को मार्ग बतला दिया गया है।

महर्षि पतञ्जलि जी ने भी सांख्य शास्त्रोक्त पच्चीस तत्व अर्थात् पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंतत्व, पञ्च तन्मात्रा, एकादश, इन्द्रियाँ और पंच-महाभूत को अपने दर्शन में स्वीकार किया है। उन्होंने केवल एक तत्व का अधिक प्रचार किया है वह तत्व है। ईश्वर इसीलिये योग दर्शन को सेश्वर सांख्य और उसके भाष्य को सांख्य प्रवचन कहा गया है। वह सांख्योक्त पुरुष से भिन्न 'पुरुष विशेष' ईश्वर है, जिसके लिये उन्होंने कहा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

अर्थात् जो पुरुष विशेष क्लेश, कर्म, विपाक और संस्कार के सम्बन्ध से रहित है, वही ईश्वर है। उनमें उनके चरम ज्ञान का बीज है। काल के द्वारा अवच्छिन्न न होने में ब्रह्मादि के भी गुरु हैं।

सांख्य शास्त्र में कहे गये बहुपुरुष इस योग-दर्शन के पुरुष विशेष ईश्वर की तरह नहीं है। सांख्योक्त पुरुषों में क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कार का सम्बन्ध होता है। ईश्वर में क्लेश आदि के न रहने से उनका भोग भी नहीं है। उन क्लेशों को पतंजलि जी

एकाग्रता

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

संसार में आज जो कुछ भी देखते हैं, वह केवल एकाग्रता का ही चमत्कार है। चित्त को किसी एक ही वस्तु पर केन्द्रित करने को एकाग्रता कहते है और चित्त की इस एकाग्रता का नाम ही ध्यान है। योग में इसको चार प्रकार से वर्णन किये है—

(१) प्रत्याहार, (२) धारणा, (३) ध्यान, (४) समाधि।

चित्त को हर ओर से हटाकर किसी एक ही वस्तु की ओर प्रवृत्त करना प्रत्याहार अथवा साधारण एकाग्रता है और उसको बार-बार उसी में केन्द्रित करना अर्थात् किसी एक वस्तु अथवा स्थल पर चित्त को ठहराने के प्रयत्न में लगे रहना धारणा है, यह प्रत्याहार से कुछ उच्च भाँति की एकाग्रता है। जब मन में धारणा शक्ति उत्पन्न हो जाती है और चित्त एक वस्तु पर स्थिर अथवा केन्द्रित हो जाता है तो उसी को ध्यान कहते हैं। यह धारणा से भी उच्च श्रेणी की एकाग्रता है। ध्यान की गहरी अवस्था का नाम समाधि है। इसमें शरीर, मन, चित्त की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी एक केन्द्र में पूर्णरूप से तल्लीन एवं मगन हो जाती है। यह सर्वोत्तम श्रेणी की एकाग्रता है और इसी को वास्तव में एकाग्रता कहना चाहिये।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ने अपने योग-दर्शन में इस प्रकार बताया है—अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये क्लेश पाँच हैं। अविद्या का लक्षण इस प्रकार किया है—

अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्य-शुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या।

अर्थात् अनित्य वस्तु में नित्य ज्ञान, अशुचि-शरीरादि में शुचित्व-ज्ञान, दुःख में सुख-ज्ञान और अनात्मा में देहादि में आत्म-ज्ञान यही अविद्या है। संसार के सब सुखों के साथ दुःख मिला हुआ है। इसलिए अज्ञ लोग परिणाम ताप और संस्कार दुःख से मिले हुए संसार के सुखों में उन्मत्त हो जाते हैं, परन्तु विवेकी लोग उनको दुःख ही समझते हैं। बुद्धि और पुरुष अलग-अलग होने पर भी दोनों की जो एकात्मता का ज्ञान है, वही अस्मिता है। सुख के विषय में अभिलाषा होने को राग कहते हैं और दुःख के साधन में चित्त की उपरत-अवस्था को द्वेष कहते हैं। अभिनिवेश मृत्यु भय को कहते हैं, जो पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण विद्वान्-अविद्वान् सभी को होता है, यही पाँच क्लेश हैं। इन्हीं के द्वारा जीव संसार में इतने कष्ट और जन्म-मरण को प्राप्त होता है। इन दुःखों से मुक्त होकर पुरुष भाव में प्रतिष्ठित करना—यही योग-दर्शन शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

योगियों का कथन है कि मनुष्य को सत्यता और वास्तविकता का ज्ञान केवल समाधि-अवस्था में ही प्राप्त होता है। यह समाधि ही वास्तविक सफलता है और जिसमें यह गुण आ गया, वह फिर हर प्रकार की सिद्धि शक्ति का मालिक हो जाता है।

सिद्धि-शक्ति वास्तव में सफलता का नाम है। योग में जहाँ इस सफलता को प्राप्त करने के विभिन्न साधन बतलाये गये हैं, वहाँ ध्यान को अत्यन्त महत्व प्रदान किया गया है। पतंजलि ऋषि अपने प्रसिद्ध योग-दर्शन में लिखते हैं कि सिद्धि चार उपायों द्वारा प्राप्त होती है—(१) जन्म से, (२) गुरु मन्त्र के जाप से, (३) औषधियों के सेवन से (४) ध्यान से। यदि आप ध्यानपूर्वक विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि उपरोक्त चारों बातों में भेद केवल नाम का है वरन् वास्तविक सिद्धान्त में कहीं भी अन्तर नहीं है। संक्षेप में इनकी व्याख्या करदी जाती है।

१—जन्म से सिद्धि प्राप्त—जब किसी के माता-पिता किसी विशेष विचार को चित्त में धारण करके उसे दृढ़ करते रहते हैं तो उसी विचार के कारण जो बालक उनके घर में जन्म लेता है, वह माता-पिता की सम्पूर्ण भावनाओं और उनके विचारों का उत्तराधिकारी बनकर आता है और जन्म से ही उन विचारों में सिद्ध होता है। इस बात का ज्ञान माता-पिता के विचारों की दशा और उनके चित्त की एकाग्रता पर ध्यान देने से प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, आचार्य कपिल को लीजिये। उनके पिता ऋषि कर्दम वेदों के ज्ञाता एवं तत्त्वदर्शी थे। उनकी माता देवहूति भी धार्मिक स्वभाव की थी और भक्तिपूर्ण विचार रखती थी। यहाँ तक कि उसने अपने पिता मनु के राज-प्रासाद की तुलना में मुनि की कुटिया को उत्तम और श्रेष्ठ समझा। यही कारण है कि उनका पुत्र भी एक उच्चकोटि का मुनि हुआ।

२—गुरु-मन्त्र के जाप द्वारा सिद्धि प्राप्त—गुरु-मन्त्र का दृढ़ विश्वास से जाप करने से भी सिद्धि-शक्ति प्राप्त होती है। जब मनुष्य सुरति को एकाग्र करके बार-बार अभ्यास लगाता है तो चित्त स्वयमेव अपने घट की ओर प्रवृत्त होने लगता है। सिद्धि-शक्ति का भंडार मनुष्य का चित्त है। जब मनुष्य एकाग्र होकर एक विचार को दृढ़ करने लगता है तो उसको ही सत्य कर दिखाता है, इसी का नाम मन्त्र-सिद्धि है।

३—औषधियों से सिद्धि प्राप्त—औषधि से तात्पर्य यहाँ केवल औषधि अर्थात् दवा से नहीं है। मनुष्य जो भी आहार प्रतिदिन प्रयोग में लाता है, वह सब औषधि का ही रूप है। आहार से चित्तमें उद्विग्नता अथवा शांति की स्थिति उत्पन्न होती है। तामसी अथवा राजसी आहार मनुष्य को अशिष्ट एवं असभ्य और सात्विक आहार उसे शिष्ट और सभ्य

बनाता है। सात्विक आहार उसकी सुरति को एकाग्र करके विशेष प्रकार की सफलता की ओर ले जाता है। इसीलिये कहा गया है कि आहार अथवा औषधि भी सिद्धि प्राप्त करने का साधन है, किन्तु स्मरण रहे कि ये आहार भी उस समय तक सिद्धि नहीं दे सकता, जब तक किसी विशेष विचार को चित्त में धारण करके उसका सेवन न किया जावे। इससे स्पष्ट हुआ कि औषधि अथवा आहार के प्रयोग में भी विचारों की एकाग्रता से ही लाभ होता है।

४—ध्यान से सिद्धि प्राप्त—ध्यान अथवा समाधि से भी सिद्धि प्राप्त होती है। इस बात को तो सब लोग भलीभांति जानते ही हैं कि ध्यान ही चित्त अथवा सुरति के एकाग्र करने का विश्वसनीय और अचूक साधन है। इस साधन से वृत्ति काफी देर तक एकाग्र रह सकती है। इसलिये योग में समाधि को सर्वोत्तम साधन बतलाया गया है।

जिस सिद्धि-शक्ति का ऋषियों ने वर्णन किया है। वह कहीं बाहर से नहीं आती, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान है। अज्ञान के आवरण ने उसे ढक रखा है। यह अज्ञान भी आज का नहीं, अपितु अनादिकाल से जीव का साथी है। केवल उसी आवरण के दूर करने के यत्न की आवश्यकता है। जो कुछ कर्म, धर्म, सत्संग आदि किये जाते हैं, उनका ध्येय केवल अज्ञान के आवरण को दूर करना है।

मनुष्य के भीतर शक्तियों का असीम भंडार विद्यमान है, परन्तु इस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ है। यह आवरण भी कल्पित है और विचारों की शक्ति से ही उसे दूर करना है। जैसे किसी खेतके चारों ओर जल ही जल भरा हुआ हो, परन्तु चारों ओर बंध लग जाने के कारण उस खेत में जल नहीं आता, वैसे ही मनुष्य सिद्धि-शक्तियों के भण्डार में निवास करने पर भी उनसे वंचित रहता है। केवल इस कारण कि उसने अपने अन्दर कल्पित बंध लगा रखे हैं।

जो मनुष्य यह कहता है कि मैं कुछ नहीं कर सकता, वह वास्तव में अपनी शक्ति से अनभिज्ञ है। मालिक ने मनुष्यको सर्वप्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है और उसे कर्म करने में स्वतन्त्रता दे रखी है अर्थात् उसे सब कुछ करने धरने का अधिकार प्रदान किया है। इस बात को मनुष्य यदि भली प्रकार से समझले, तो उसे अपने अन्दर काम करने वाली शक्ति सुरति की एकाग्रता का तत्काल पता चल जायेगा। मनुष्य के अन्दर असीम शक्ति है, जिसे आत्म सत्ता कहते हैं, किन्तु इसका ज्ञान परिपूर्ण संत सद्गुरु की चरण-शरण ग्रहण किये बिना कदापि नहीं हो सकता।

है नेरे सूझे नहीं, लानत ऐसी जिंद।
तुलसी या संसार को, भया मोतिया बिंद॥

संसार को मोतियाबिन्द का रोग लगा हुआ है। आंख में मोतियाबिन्द का आवरण आ

जाने से निकट की वस्तु भी दिखाई नहीं पड़ती। तुलसीदास जी कहते हैं कि वस्तु तो मनुष्य के निकट हो, परन्तु फिर भी उसे अज्ञान-आवरण के कारण दिखलाई न पड़े, तो ऐसे जीवन को धिक्कार है।

आँख में जब मोतिया बिन्द का आवरण आ जाता है तो उस रोगी को कुछ दिन के लिये अस्पताल में नेत्र-विशेषज्ञ के उपचार में रहना पड़ता है। जब वह आवरण उतर जाता है तो उस रोगी को सही दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार पारमार्थिक नेत्र पर माया का आवरण आ गया है, जिसके कारण मालिक का निवास घट में होते हुए भी उनका दर्शन नहीं हो रहा है उसके लिये भी आध्यात्मिक वैद्य परिपूर्ण सद्गुरु की संगति में रहने की आवश्यकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्त अर्जुन के सम्मुख साक्षात् विद्यमान हैं फिर भी कहते हैं—

न तु मां शक्यसे,
द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः,
पश्य मे योगमैश्वरम्॥
—श्रीमद्भागवत गीता ११/८

हे अर्जुन! मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निस्सन्देह समर्थ नहीं है। इसी से मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूं, उससे तू मेरी ईश्वरीय योग-शक्ति को देख सकेगा।

आज के मनुष्य के लिये भी आवश्यक है कि समय के परिपूर्ण सद्गुरु की चरण-शरण ग्रहण कर उनकी सेवा करे, तभी उसे परमार्थ के भेदों का पता चल सकेगा। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन,
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं,
ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह,
मेवंयास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण,
द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
—गीता ४/३४-३५

हे अर्जुन! उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ। उनको भलीभांति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट त्याग कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्मतत्त्व को भलीभांति जानने वाले ज्ञानी सन्त पुरुष तुझे उस तत्त्व-ज्ञान का उपदेश करेंगे। जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा जिसके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहिले अपने में और तत्पश्चात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा।

प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर स्वाभाविक ही आत्मिक शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति के आधार पर ही तो प्रत्येक व्यक्ति चल-फिर

रहाहै और हर प्रकारके कार्य-व्यवहार कर रहा है। किन्तु कितना खेद का विषय है कि उस शक्ति को भूलकर मनुष्य स्वयं को शरीर एवं इन्द्रियां मान बैठा है और सुरति को बिखेर कर दिन रात शारीरिक एवं ऐन्द्रिक सुखों के साधन जुटाने में व्यस्त है। वह आत्मिक आनन्द की प्राप्ति का यत्न एवं पुरुषार्थ नहीं करता। यही कारण है कि आज का मनुष्य चाहे वह राजा है अथवा प्रजा, धनी है अथवा दीन, उस आत्मिक शक्ति को भूलकर दुःखी एवं परेशान है। इसीलिये सन्त पुरुष उसे चेतावनी देते हुए अचेतनता एवं असावधानी की निद्रा से जगाते हैं—

भीखा भूखा कोई नहीं गांठी सबकी लाल।
गांठ खोल देखें नहीं, ताते भये कंगाल।।

—भीखा साहिब

कहते हैं कि प्रकृति की ओर से दीन और भूखा कोई नहीं है। सबकी गठरी में विधाता ने भक्ति तथा नाम के असंख्य हीरे-जवाहर और परमार्थ के कान्तियुक्त मोती बांध दिये हैं। किन्तु क्या किया जाय! कोई अपनी गठरी खोलकर उनका अवलोकन ही नहीं करता। उनकी ओर ध्यान न होने के कारण ही संसारी मनुष्य परमार्थिक धन से वंचित है और इसीलिये कंगाल और दुःखी है।

इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य परिपूर्ण सन्त सद्गुरुकी खोज करे और खोज कर लेनेपर उनकी संगति एवं समीपता में रहकर सत्संग का रस-पान करे। शनैः शनैः बुद्धि पर अज्ञान का जो आवरण आ चुका है, वह दूर हो जायेगा। सद्गुरु के प्रवचनों का ध्यानपूर्वक श्रवण करने से हृदय में ज्ञान का प्रकाश होने लगेगा।

सद्गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान रूपी अंजन को जब हृदय के नेत्रों में प्रतिदिन लगाया जायेगा तो शनैः शनैः अज्ञान आवरण दूर होना प्रारंभ हो जायेगा और वास्तविकता दृष्टिगोचर होने लगेगी तथा घट में दबी हुई आत्मिक शक्ति उभरने लगेगी।

यह सब कुछ तभी होगा जब मनुष्य सन्त सद्गुरु के पवित्र वचनों के अनुसार प्रतिदिन उनके बताये हुए मन्त्र का दृढ़ विश्वास से अभ्यास करने लगेगा और ध्यान-साधना के भेद से अभिज्ञ होकर अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) को परमेश्वर के नाम में लीन करने का प्रयत्न करेगा। ज्यों ज्यों ध्यान एकाग्र होता जायेगा, त्यों-त्यों घट में आत्मिक आनंद प्राप्त होने लगेगा।

मकड़ी कहीं बाहर से सूत के रेशे लाकर अपना जाल नहीं बनाती। उसका भण्डार स्वयं उसके अन्दर विद्यमान है। वह हृदय के महीन पर्दों से उनको बाहर निकालकर ताना-बाना तनती है और उसके द्वारा भोजन प्राप्त करती है। रेशम के उस कीड़े से जो अपने जाल में स्वयं बन्दी हो जाता है। मकड़ी सहस्र गुणा अच्छी है जो अपने आपको अस्तित्व को समझती है और स्वतन्त्र रहती है।

हम यहां जो कुछ देख रहे हैं, वह सब एकाग्रता के खेल हैं। जो मनुष्य सुख भोगों का जीवन व्यतीत कर रहा है। उसने अपनी सुरति को सुख भोगों के लिये एकाग्र किया। उसकी चित्त की एकाग्रता ने भांति-भांति के पदार्थों को खींचकर उसके समक्ष प्रस्तुत कर दिया।

जो रात-दिन भिक्षा मांगता है, वह सङ्कीर्ण विचारों का और कायर है, वह नैराश्य एवं दुर्गन्धि की ओर अपनी सुरति को एकाग्र कर रहा है। तीसरा पुरुषार्थी व्यक्ति है, वह सुरति को पुरुषार्थ और साधन में एकाग्र कर रहा है। उसका पुरुषार्थ सफल होता है। वह अपने साथ दूसरों को भी भरपेट खिला रहा है। एक चौथा मनुष्य है, वह अपने अन्तस्तल में घुसकर अपनी सुरति को शब्द में एकाग्र कर रहा है। वह इतना प्रसन्न है कि उसकी प्रसन्नता राजाओं को भी प्राप्त नहीं, क्योंकि जिसने मन पर विजय प्राप्त करली, उसने मानो जगत को जीत लिया।

सारी बात स्पष्ट है, जिसने जिस विचार को लेकर अपनी सुरति को एकाग्र किया उसने उसी प्रकार की सफलता प्राप्त करली। इसलिये योगियों ने, ज्ञानियों ने, ऋषियों ने, तत्ववेत्ता सन्त सद्‌पुरुषों ने पग-पग पर सुरति की एकाग्रता अथवा सुरत-साधना का गीत गया है।

आचार्य द्रोणाचार्य जब राजकुमारों की धनुर्विद्या की परीक्षा लेने लगे तो शर्त यह ठहरी कि सामने पेड़ पर बैठी चिड़िया की आंख में बाण मारना है। पहले दुर्योधन ने निशाना बांधा और आचार्य के पूछने पर बोला—मुझे वृक्ष, उसके पत्ते, शाखायें और उस पर बैठी हुई चिड़िया—सब कुछ अच्छी तरह दिखाई दे रहा है।

आचार्य बोले—वत्स! तू धनुष-बाण रख दे, तेरा निशाना ठीक नहीं बैठेगा। तत्पश्चात् सभी राजकुमारों ने बारी-बारी से निशाना बांधा और आचार्य के पूछने पर किसी ने कुछ और किसी ने कुछ उत्तर दिया। आचार्य द्रोण ने सभी को निशाना लगाने से रोक दिया। अन्त में अर्जुन ने निशाना बांधा। पूछने पर उसने उत्तर दिया कि मुझे तो चिड़िया की केवल वह आंख ही दिखलाई दे रही है जिसका मुझे निशाना लगाना है। आचार्य बोले—शाबाश बेटा! तीर चला दे। और सब जानते ही हैं कि सफलता अर्जुन को ही प्राप्त हुई, क्योंकि उसने सुरति को अपने लक्ष्य अथवा केन्द्र पर एकाग्र कर दिया था।

भाग्यशाली मनुष्य सत्पुरुषों की संगति में आकर चित्त की एकाग्रता का भेद समझ लेते हैं और अपने चित्त को मालिक की ओर प्रवृत्त एवं एकाग्र करके उसका दर्शन प्राप्त करते हैं तथा नित्य सुख, परम शान्ति और शाश्वत आनन्द को प्राप्त करके जीवन को सफल बना लेते हैं।

सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल

❀ श्री रामसजीवन सिंह

सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल की अपार लीलाएँ
हम अपने सद्गुरुदेव द्वारा सुनते नहीं अघाते
कितनी विलक्षण बात है।
इस घोर कलिकाल में दुखियों के हितार्थ
दर्शाया योग का सरलतम मार्ग
रामरती, मंगामल, नन्दलाल, मेढू आदि की गाथाएँ
सुनने वाले चकित हो जाते हैं
योग के सच्चे अनुगामी बन जाते हैं
मन को बेलगाम छोड़ने की
बात करने वाले कलंकियों की
गलेगी भला कैसे दाल ?
उनका तो खुद है बुरा हाल
वे योग से कोसों दूर हैं
अपनी आदत से मजबूर हैं
विदेशी पैसा, ख्याति और आकर्षण
करा लेता है आत्म-समर्पण
खाली घड़े की तरह छलकते हैं
देश विदेश में घूम-घूमकर ठगते हैं
किन्तु आनन्दकन्द मेरे गुरुदेव
अनन्त योग-योगेश्वर चन्द्रमोहन जी की
शरण में आने वाले
इस पाखण्ड-जाल से वंचित हो
डूबते हैं आनन्द में
योग की अमूल्य निधि
सजती है उनके हाथ में।

ऐसे दयालु हैं, श्री महाप्रभु जी

❀ श्री केशव उपाध्याय

सिद्धयोग पत्रिका के नियमित पाठकों को श्री राजेश तिवारी के अपहरण और अनादि सिद्ध श्री महाप्रभु जी की कृपा द्वारा स्वयं उसके घर वापस लौटने की घटना भली प्रकार स्मरण होगी। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के सोनाईबाध गांव की यह घटना सन् १९८२-८३ की है। मार्च १९८२ में राजेश तिवारीका कुछ अवांछनीय तत्वों द्वारा उसके गांवके पाससे अपहरण कर लिया गया। बच्चे की मांके पीहर (नैहर) वाले लोग श्री सिद्धयोग आश्रम सवाई से सम्बन्धित हैं। अतः उनके कहने पर श्री राजेश की माँ ने श्री सिद्ध-गुफा सवाई के वर्तमान योगेश्वर हमारे सद्गुरुदेव श्री प्रभु जी से प्रार्थना की एवं उनके चरणों का दर्शन इसी कामना को लेकर योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवाई धाम पर किये तथा एक-दो अन्य योग प्रचार कार्यक्रमों में भी सम्मिलित हुए। अन्ततः श्री महाप्रभु जी द्रवीभूत हुए एवं स्वयं श्री राजेश को उसके गांव के पास तक पहुँचा गये।

जिस समय राजेश का अपहरण हुआ था, उस समय उसकी अवस्था चौदह-पन्द्रह साल की रही होगी। आश्चर्य की बात तो यह है कि श्री महाप्रभुजी ने जब से उसे अपने साथ उसके घर पहुँचाया, राजेश के साथ समय-समय पर अनेक विलक्षण कृपा हुआ करती हैं। वे दयानिधान श्री महाप्रभु जी, को वह जब भी याद करता है उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं। वह न भी याद करे, परन्तु यदि वह संकट में पड़ गया है तो हमारे बाबा गुरुदेव जी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसकी सहायता कर उसका संकट दूर कर दिया करते हैं।

उसके अपहरण और उसके घर वापसी की घटना सन् ८३-८४ की श्री 'सिद्धयोग' पत्रिका में निकल चुकी है। इस लेख को एकाग्र मन से यदि पढ़ा जाय तो उसमें एक स्थान पर यह वर्णन मिलता है कि श्री महाप्रभु जी ने राजेश को आदेश दिया था कि तुम जब भी हमको याद करोगे, हम तुम्हारे पास आ जायेंगे। शायद, यही कारण है कि जिस सिद्धेश्वर के दर्शन भाग्यवान् गुरु-भाई, बहिन कठिन साधना के बाद ध्यान में कर पाते हैं। वही हमारे दादा गुरुदेव उसकी एक आवाज पर या उसकी एक चाह पर उसके सामने प्रकट होकर कभी स्थूल रूप से तथा कभी सूक्ष्म रूप से उसे दर्शन दे देते हैं। गांव के निवासी, इसके परिवार वालोंने इस सीधे-साधे बालक को खेती के कार्य में लगा दिया है। राजेश के मामा जी तथा उसकी माँ, हम लोगों के शुभचिंतक हैं। अतः प्रभु-चर्चा

के समय से अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन करते हैं, जो कि राजेश के गांव पर, राजेश के साथ श्री महाप्रभु जी की कृपा से घटित हुई हैं। इन घटनाओं को सुनकर किसी भी साधक का प्रभु-चरणों में प्रेम बढ़ जाना स्वाभाविक सा ही है। उन्हीं घटनाओं में से केवल एक घटना, जो अभी हाल में ही यानी जून सन् १९८५ में राजेश के साथ घटित हुई तथा जिसे स्वयं उसके मामा जी ने हमें बतलाई। यहां वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है। इस घटना को राजेश के शब्दों में ही लिपिबद्ध किया गया है। यहीं सिद्धयोग पत्रिका के सुयोग्य पाठकों से प्रार्थना है कि लेख की त्रुटियों को क्षमा करने की कृपा करें। यहां एक बात यह बता देना भी उचित होगा कि राजेश श्री महाप्रभु जी को बाबाजी कहकर ही बराबर सम्बोधित करता है। उसने बताया—

'एक दिन जब मैं अपने ट्यूबवैल पर बैठा था, जो हमारे बगीचे के पास ही है। हमारे परिवार के एक बुजुर्ग सदस्य ने मुझे आदेश दिया कि राजेश! इस पेड़ पर का आम किसी आदमी को बुलाकर तुड़वा लो। करीब दस दिन बाद मैं अपनी भैंसों को चराने अपने ट्यूबवेल के पास ले गया। भैंसें आसपास की घास चर रही थीं तथा मैं ट्यूबवेल पर था। बेहद गर्मी थी तथा बिल्कुल ही हवा नहीं चल रही थी। मैं हवा लेने बगीचे में गया तथा गर्मी से बचाव हेतु एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। थोड़ी देर बाद मुझे अपने परिवार के बुजुर्ग सदस्य की आज्ञा याद आई कि उन्होंने इसी पेड़ से तो आम तोड़ने को कहा था। गर्मी से लथपथ शरीर जब हवा लगने से कुछ आराम महसूस करने लगा, तब मैं उस पेड़ पर चढ़ गया जिस पर से आम को गिराना था। चढ़ते-चढ़ते मैं उस पेड़ की ऊँचाई पर चला गया। पेड़ की एक पतली डाल पर दोनों पैर रखे तथा दोनों हाथों से पेड़ के ऊपरी सिरे की एक पतली डाल पकड़ कर हाथ और पैर वाली दोनों डालों को जोर से हिलाना आरम्भ किया। हिलाना बन्दकर मैंने देखा कि नीचे काफी मात्रा में आम गिर गये हैं। इस लालच से कि जो आम, अब भी डालों पर बचे हैं, उन्हें नीचे गिरा दूँ। मैं पुनः हाथ और पैर से दोनों डालों को जोर से हिलाने लगा। संयोग कुछ ऐसा बना कि दोनों डालें (जिन पर पैर रखा था तथा जिसे हाथों से पकड़े था) टूट गईं तथा मैं समझा कि अब तो इतनी ऊँचाई से गिर कर मरना ही है। चूंकि हाथों से पकड़ी गई डालें पहले टूट गयी और पैर रखने वाली डाल उसके कुछ सेकिण्ड बाद टूटी। अतः मुझे सिर्फ इतना ही याद रहा कि मैं अब जमीन पर गिर रहा हूँ तथा गिरते समय मेरा सिर नीचे है। अब तक मुझे बाबा जी (हम लोगों के दादा गुरुदेव श्री महाप्रभु जी)

की याद नहीं आई थी। सिर में बड़ी तेज चोट आ गई तथा मैं बेहोश हो गया। उसके बाद मेरी आंखें बन्द हो गयीं, मुझे बाह्य ज्ञान का अनुभव ही न रहा। मुझे बड़ी जोर से प्यास लगी थी, पर मैं बेहोशी की हालत में ही सोच रहा था कि इतनी तेज गर्मी तथा धूप में यहाँ पानी लेकर आखिर कोई क्यों आयेगा। आने वाले को क्या पता कि मैं पेड़ से गिर कर बेहोश पड़ा हूँ। मुझे पानी की आवश्यकता है और पानी न मिलने पर मेरे प्राण-कोष शरीर छोड़ देंगे। अन्त में मुझे याद आया कि इस समय केवल बाबा जी ही मुझे पानी पिला सकते हैं, क्योंकि वे बिना बताये ही मन की बात जान जाते हैं। मुझे याद आया कि बाबाजी ने तो वचन दिया है कि तुम जब भी याद करोगे, मैं आ जाऊँगा।

मेरा इतना सोचना था कि एक हाथ में चिमटा तथा एक हाथमें पानीसे भरा कमण्डल लिये मधुर मुस्कान के साथ तेजी से बाबाजी आते दिखलाई दिये। मैंने मन ही मन उन्हें प्रणाम किया, आते ही बाबाजी ने कहा, क्यों रे प्यासा है। इतना कहकर बाबा जी ने कमण्डल झुकाकर पानी पिलाने की तैयारी ज्योंही की, मैंने अपना मुँह खोल दिया। बाबाजी ने कमण्डल से पानी के नाम पर जो पदार्थ मेरे मुँह में गिराया, वह साधारण पानी नहीं था, बल्कि आम के प्रकार का विशिष्ट स्वाद का कोई तरल पदार्थ था। मुझे प्यास की समाप्ति के साथ ही विशेष आनन्द का भी अनुभव हुआ, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कमण्डल से पानी के स्थान पर तरल पदार्थ पिलाकर बाबा जी जिधर से आये थे, उधर ही चले गये। यद्यपि अब भी मेरी आंखें बन्द थीं, मैंने अनेक बार कोशिश की, परन्तु मेरी आंखें नहीं खुलीं, परन्तु अब मैं घबड़ाहट में नहीं, अपितु अन्दर ही अन्दर आनन्द में था। अब तक मैं बगीचे में अकेले पड़ा था। इसके बाद का वर्णन जैसा दर्शक लोगों ने बतलाया, वह नीचे दिया जा रहा है।

दिन घिरने पर सायंकाल जब भैंसों के चरवाहे अपनी-अपनी भैंसों के गिरोह के साथ अपने घर जाने हेतु उस बाग से गुजरे तो उन सबों ने देखा कि राजेश पेड़ से गिर पड़ा है। उसके दोनों बगल पेड़ की दो डालें ऐसे पड़ी हैं जैसे किसीने सम्भाल कर रखी हैं और चारों तरफ उस पेड़ के, जहां वह गिरा है, कच्चे तथा पके आम गिरे पड़े हैं। राजेश के पास जाकर उन लोगों ने आवाज लगाई, उसे हाथ से हिलाया परन्तु राजेश के शरीर में कोई गति नहीं आई। सबों ने देखा तो श्वास चल रही थी। अब सब श्वास चलने की परीक्षा कर रहे थे तो सबने देखा कि राजेश के मुँह में गाज (फेन) भरा हुआ है तथा उसका मुख खुला हुआ है। कुछ फेन वहीं जमीन पर भी गिरा हुआ प्रतीत हो रहा था। सबने जोर से

चिल्लाना आरम्भ किया कि राजेश को सर्प ने काट लिया है। मैंस के चरवाहे बड़ी जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। थोड़ी ही देर में वहाँ कुछ लोग एकत्रित हो गये। उसके परिवार के सदस्य भी तत्काल ट्यूबवेलसे निकलकर घटना-स्थल पर पहुँच गये। वहाँ एकत्र सभी लोग यही समझ रहे थे कि पेड़ पर ही इसे सर्प ने काट लिया है। बिना किसी विलम्ब के उसके परिवार वाले अपने हितैषियों के साथ नजदीक के डाक्टर के पास दूसरे गांव में ले गये। डाक्टर ने परीक्षण के बाद बतलाया कि सर्प ने नहीं काटा है, पेड़ से सिर के बल गिरा है, सिर में साधारण चोट है, ठीक हो जावेगा। डर के कारण बेहोश हो गया है। डाक्टर ने बतलाया कि मुँह से (मुख से) फेन (गाज) आने वाली बात क्यों है? समझ में नहीं आ रही है। इसके बाद डाक्टर ने सुई लगाई, दवा दी, उसे होश आ गया, तब डाक्टर ने बतलाया कि एक-दो दिनमें ठीक हो जावेगा।

राजेश के परिवार के लोग अपने हितैषियों के साथ अपने घर आये, जब राजेश होश में था। राजेश की माँ ने जब राजेश को देखा तो अश्रु-पूरित नेत्रों से उसकी लुंगी से, जो उसने पहन रखा था, उसके मुख का फेन साफ कर दिया। जब उसकी माँ फेन साफ कर रही थी, राजेश तेजी से उसके हाथ से लुंगी खींचकर बोला—अरे! यह क्या कर रही हो? इसे मुख से क्यों साफ कर रही हो? इतना कहकर राजेश ने लुंगी का वह हिस्सा जीभ से चाटना आरम्भ किया, जिसमें वह गाज (फेन) के प्रकार का पदार्थ लगा था। उसकी माँ ने जब उससे कहा कि बेटा! यह यह क्या कर रहे हो? यह गंदा जीभ से चाट रहे हो। तब राजेश ने एकान्त स्थान में उससे कहा कि माता जी! यह गंदा पदार्थ नहीं है, यह वही पदार्थ है जिसे बाबा जी ने हमें तब पिलाया था, जब मैं पेड़से गिरकर बेहोशी की हालत में प्यास से तड़पता रहा था। यदि बाबाजी आकर हमें अपने कमण्डल से यह अमृतमय पदार्थ नहीं पिलाये होते तो मैं कभी का मर गया होता। उसकी बात को सुनकर उसकी माँ उसे गले लगाकर फूट-फूटकर रोते हुए उस बाबाजी की कृपाओं को, जो हमारे दादा गुरुदेव जी हैं याद करती रही। यह रही अबोध बालक राजेश पर महाप्रभु जी की कृपा।

श्री सिद्धयोग के पाठकों को आश्चर्य इस तथ्य से अवगत कराना अपना कर्तव्य समझता है कि राजेश के परिवार का कोई भी सदस्य (यहाँ तक कि राजेश और उसकी माँ भी) प्रभु-चरणों में दीक्षित नहीं है। राजेश की माता जी हम लोगों के श्री गुरुदेव के आदेशानुसार पञ्चाक्षरी मन्त्र का जाप करती हैं। "जीवन सरल साधन" की अंग्रेजी वाली किताब से श्री प्रभु जी तथा श्री महाप्रभुजी का स्वरूप निकालकर तथा उसे मढ़वाकर उन्हीं स्वरूपों

—● सावधानी ही साधना है ●—

❀ श्री विजयशङ्कर उपाध्याय

साधक को बराबर देखते रहना चाहिये कि कहीं उसके हृदय में किसी कोने में लुक छिपकर काम तो नहीं बसा हुआ है? उसे बराबर अपने ऊपर चौकसी रखना चाहिये और श्री प्रभुजी का आश्रय रखते हुए सदा दुर्गुणों से बचना चाहिये। यदि श्री प्रभु जी का दृढ़ आश्रय बना रहा तो विपदायें और विषमतायें कुछ नहीं कर सकतीं। एक बात सदा ध्यान में रखी जाय, कहीं संसार का कोई भी प्रलोभन हृदय को लुभा न ले। यह वाक्य है योगी गरीबनाथ जी का।

छत्रपति शिवाजी महाराज के समय की बात है। धारवाड़ जिले में सरसी और उज्जैनी नामक शहरों के पास एक छोटा सा गांव था, वहीं योगी श्री गरीबनाथ का जन्म हुआ था। बचपन से गरीबनाथ का भगवत् सम्बन्धी विषयों में अपार अनुराग था। स्तन पान कराते ही इनकी माँ कृष्ण, गोविन्द, नारायण, वासुदेव, दामोदर कह-कहकर बच्चे को चुम्बियां लिया करती थीं। मानो दूध के साथ ही अपने बच्चे को श्रीकृष्ण प्रेम का अमृत पिला रही थीं। माता के दूध के साथ ही इन्हें हरिरस पीने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय का पिया हुआ हरिरस रोम-रोम में ओत-प्रोत हो जाता है और समस्त जीवन को प्रभुमय कर देता है अन्यथा प्रभु में विश्वास होना बड़ी ही दुर्लभ बात है। यह तो पूर्वजन्म के किसी महान् पुण्य का फल ही मानना चाहिये।

जिस पर श्री प्रभु जी दया करते हैं, उसे

(पिछले पृष्ठ का शेष)

की दोनों समय आरती करती हैं। इन पंक्तियों को लिखते समय भजन की ये लाइनें अनायास याद आती हैं—

"सब पर करुणा करते।
केवल शिष्यों पर ही नहीं॥"

अनाथ नाथ की कैसी कृपा है। दोनों समय आरती-पूजा और मन्त्र-जाप करते रहने पर भी जो बाबा जी बड़ी मुश्किल से अन्त-काल तक केवल ध्यान में दर्शन दे पाते हैं, वे भी अपने दीक्षित बच्चों को, वही बाबा जी अकारण परिवार की नजर में मूर्ख, कम बुद्धि वाले बालक के प्रति जो भैंस-गाय चराने और खेती-बारी के कार्य में बराबर व्यस्त रहता है, इतने कृपालु क्यों हैं? इसका कारण तो हमारे प्रभुजी ही जानें।

अन्त में अपने आराध्य के युगल-चरणों में कोटिशः साष्टांग-प्रणाम के साथ लेख को यहीं विराम दिया जा रहा है।

सर्वतोभावेन अपनी ओर आकृष्ट कर लेने के लिये समस्त सांसारिक बन्धन छिन्न-भिन्न कर देते हैं।

गणेशनाथ कठिनाई से बोलने-समझने लायक हुए थे कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। परन्तु जिसे श्री प्रभु-चरणों में कुछ विश्वास हो गया, उसे संसार की कोई विपत्ति डिगा नहीं सकती। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन,
गुरुणापि विचाल्यते।
—गीता ६/२२

गणेशनाथ क्यों घबरायें जिसके मस्तक पर प्रभु का हाथ है उसे किस बातकी चिन्ता। वास्तव में ऐसे संयोग को दुःख कहना संसारी मनुष्यों की मूढ़ता ही है, यह भूल नहीं तो क्या है। हमें तो यह समझना चाहिये कि यह प्रभु का संकेत है। वह अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये निमन्त्रण भेज रहा है। हमें इस दिव्य निमंत्रण को स्वीकार कर श्रीप्रभुजी की शरण में आना चाहिये, क्योंकि वास्तव शान्ति एकमात्र प्रभु की शरण में ही है।

सत्सङ्ग पाकर भगवत् भक्ति खिल उठती है। सन्तों का समागम पाकर गणेशनाथ की भक्ति उमड़ आई। माता-पिता के चले जाने के बाद वह प्रभु-चर्चा में भगवान का नाम जोर-जोर से लेकर उसी में रम गये। काठ का एक कमण्डल धारण कर एक लंगोटी पहन कड़ाके के जाड़े, गर्मी, बरसात में रहने लगे। वे प्रभु के स्वरूप के सामने प्रेम-विभोर होकर नाचा करते और करुणा भरे शब्दों में अपने गुरु-चरणों में प्रार्थना करते—

संसारकूपे पतितो ह्यगाधे,
मोहान्धपूर्णे विषयानि सक्तः।
करावलम्बं मम देहि नाथ,
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

गणेशनाथ ने संसार से दृढ़ वैराग्य धारण कर लिया और सुख-दुःख, मान-अपमान, राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से दूर हो गये।

एक बार छत्रपति शिवाजी तीर्थ-यात्रा के लिये पण्ढरपुर आये। योगी गणेशनाथ का नाम सब लोग जानते ही थे। शिवाजी महाराज गणेशनाथ का दर्शन करने के लिए उनके चरणों में पधारे। उस समय गणेशनाथ प्रभु जी की आरती में संलग्न थे, उन्हें क्या पता कौन आया, कौन गया। आरती-पूजन, प्रवचन समाप्त हुआ। शिवाजी ने चरणों में अपना मुकुट रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की और बड़े ही आदर-विनय के साथ कहा—महाराज! आज कृपा कर मेरे खेमे में पधारें और वहीं रात का विश्राम भी कीजिये। इस मान-प्रतिष्ठा को देखकर गणेशनाथ का हृदय रो पड़ा, परन्तु शिवाजी का आग्रह भी अटल था। जब गणेशनाथ ने देखा कि अब बिना गये काम नहीं चलेगा, तो उन्होंने एक तदबीर सोची। उन्होंने बहुत से कंकड़ चुन

लिये और अपने वस्त्र के एक छोर में बांध लिये। शिवाजी को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और कारण पूछा। गणेशनाथ ने कहा—प्रभु का नाम लेने के लिये। मान-प्रतिष्ठा की लपटें जब घेर लें, तब प्रभु नाम का आश्रय लेना चाहिये और जोर-जोर से प्रभु का नाम जपना चाहिये। क्योंकि संसार के प्रलोभनों से प्रभुजी ही बचा सकते हैं और उनका हाथ सर्वत्र सर्वदा भक्त के मस्तक पर बना ही रहता है।

शिवाजी की तमाम सुख सुविधाएँ उन्हें डिगा नहीं सकीं और गणेशनाथ ने शिवाजी को बहुत ही प्रेम भरे शब्दों में समझाया, तब शिवाजी की आँखें खुलीं। गणेशनाथ ने अश्रु-पूर्ण गद्गद् वाणी से कहा—

कदा वृन्दारण्ये विमल
यमुनातीर पुलिने,
चरन्तं गोविन्दं हलधर,
सुदामादि सहितम् ॥

अये कृष्ण स्वामिन्,
मधुर मुरलीवादन विभो।
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिष-
मिव नेष्यामि दिवसान् ॥

छत्रपति शिवाजी ने हाथ जोड़कर क्षमा-याचना की। इस पर गणेशनाथ ने पुनः कहा—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्।
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि काम तृष्णाम ॥
अन्यस्य दोष गुण चिन्तन माशुमुक्त्वा।
सेवा कथा रस माहो नितरां पिबत्वम् ॥

अतः गणेशनाथ ने जब देखा कि संसार में उनकी कीर्ति-ख्याति बढ़ रही है जो साधना की बाधक है, अतएव उन्होंने सब कुछ छोड़-छाड़कर जंगल में रहना ही उचित समझा। साधना में एक क्षणभर भी अन्तराल महात्माओं को सहन नहीं होता। अब गणेशनाथजी जंगल में एकान्त वास करने लगे।

गणेशनाथ तथा अन्यान्य भक्तों के चरित्र के श्रवण मनन का तो यही परिणाम है कि भक्तों के चरित्र से हृदय पवित्र होकर प्रभु का निरन्तर निवास-स्थान हो जाता है।

—❀ सिद्धों की कृपा ❀—

आप संकोच न करें कि आपको कुछ प्राप्ति नहीं हुई है। सिद्धों को आपके खोलने में एक ही क्षण लगता है। आपमें पूर्ण भक्ति, पूर्ण श्रद्धा, दृढ़ आस्तिक्य बुद्धि, सर्व समर्पण भाव होते ही सिद्ध-कृपा को बहुत देर नहीं—तुरन्त सिद्ध-कृपा हो जायेगी। जब महान् सिद्धों की कृपा होती है, तब आप साधन-सम्पन्न ही नहीं, मोक्षपति ही नहीं पूर्ण सिद्ध ही बन जाते हैं। सिद्ध-कृपा से साधक सिद्ध ही होता है, वह कभी बद्ध नहीं रह सकता। आपको बारबार अपने सिद्धलोक की याद रखनी चाहिये। सिद्धों की असमर्थ को समर्थ बनाने वाली अलौकिक सामर्थ्य को आपको याद रखनी ही चाहिए।

—स्वामी मुक्तानन्द

ईश्वर-प्रणिधान

श्री के० डी० उपाध्याय
(असिस्टेंट केमिस्ट)

ईश्वर-प्रणिधान की सही व्याख्या कर सकना मेरे जैसे अल्पमति वाले का काम नहीं है। फिर भी गुरुदेव की अनुकम्पा से इसकी व्याख्या के लिये कुछ विद्वानों की कही हुई बातों का ही सहारा लेना पड़ रहा है। प्रणिधान प्रणय का निकटवर्ती ही एक शब्द है। प्रणय तभी सम्भव होता है जब दो अस्तित्व का मिल कर एक ही अस्तित्व बन जाय। ईश्वर के प्रति प्रणिधान का भी यही अर्थ होना चाहिये कि सब कुछ उस पर इस तरह से न्यौछावर कर दें कि उसके अलावा कोई अलग काम्य वस्तु रह ही न जाय। सब ओर उसके ही दर्शन हों तथा उसकी सृष्टि की रचना को देखकर मन अतिशय विमुग्ध बन जाय।

जिस समय अनन्य प्रेम का, उसकी एकरसता का फूल हृदय में खिलता है तो उसकी सुगन्ध स्वतः ही चारों ओर फैलने लगती है और सारी वस्तुओं में प्रेम ही प्रेम झिलमिलाता दिखाई पड़ता है। घृणा के लिये कोई कहीं स्थान ही नहीं रह जाता। उसकी तन्मयता का आनन्द ही अनुपम है। 'लोग कहें मीरा हो गई बावरी' वाली स्थिति हो जाती है।

ऐसा भी सुनने में आता है कि मजनू को लैला के कुत्ते से भी प्यार था। यह अपने इष्ट के प्रति अतिशय प्रेम का ही परिणाम था कि रसखान को कहना ही पड़ा—

"मानुष हौं तो वही रसखान बसौं,
ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।"

भक्त कवि तुलसीदास ने भी इसी भावना के वशीभूत होकर गाया था—

सोहि मोहि माले अनेक मानिये जो भावें।
जेहि तेहि तुलसी कृपाल चरण शरण पावें॥

ऐसी स्थिति में अपने इष्ट की सारी वस्तुएँ ही प्रिय होती हैं।

इस ईश्वर-प्रणिधान के बारे में एक और बड़ी ही सुन्दर कहानी है। नारद को अपनी भक्ति पर बड़ा अभिमान था। यह जब श्रीकृष्ण को मालूम ''' तो उन्होंने नारद की परीक्षा लेनी चाही। एक दिन जब नारद भगवान् श्रीकृष्ण के पास पहुँचे तो उन्हें कष्ट से कराहते हुए पाया। जब कारण पूछा तो भगवान बोले—मेरे सारे शरीर में भयंकर पीड़ा हो रही है। मुझे लगता है कि मैंने अपने किसी भक्त के साथ कोई अन्याय कर डाला है। अब इसका यही एक उपाय है कि अगर कोई भक्त अपने चरण की रज दे दे और मैं उसे अपने शरीर में लगा लूँ तो पीड़ा दूर हो जायेगी।

नारद यह सुनकर घबड़ा गये और बोले—'हे प्रभो! ऐसा अनर्थ कौन करेगा, उसे तो घोर नरक में पड़ना होगा तथा उसके सारे

शरीर में कुष्ठ हो जायेगा। हे नाथ मेरी तो रक्षा करें, मुझसे यह नहीं हो पायेगा।

तब श्रीकृष्ण ने कहा—अच्छा तुम गोकुल चले जाओ और गोपियों को मेरी सारी व्यथा बताओ। नारद ने वैसा ही किया। यह सुन कर गोपियां घबड़ा गईं और सबने अपना रज उतार कर देना शुरू किया, तब नारद ने कहा, इसका परिणाम तुम्हें पता है? इस पर गोपियों ने कहा—हमें परिणाम की कोई चिन्ता नहीं। 'पहले हमारे प्रभु जी के कष्ट निवारण करो। जाओ जल्दी चले जाओ।' यह है इष्ट-निष्ठा का एक उदाहरण। यही है वह परम पद, यही है वह "न तद्भासयते सूर्यो।"

भगवान् पतंजलिदेव ने इसकी वैज्ञानिक व्याख्या दी है—"या दृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति ता दृशी।" जिसकी भावना में हमेशा इष्ट ही इष्ट रहता है वह खुद ही उनका स्वरूप बन जाता है।

बहुत जगह देखने में आता है कि ईश्वर या इष्ट से प्रेम तो है, पर उसके बच्चों से नहीं। ऐसा हो ही नहीं सकता कि मेरा कोई परम-प्रिय हो और मेरे बच्चों के प्रति उसमें घृणा हो। अगर ऐसा प्रेम कहीं दिखाई पड़े तो वह गलत है, झूठ है और धोखा है। सर्व अन्तर्यामी प्रभु से वह छिपा नहीं रहता, छिपा नहीं है। जब प्रेम का पात्र लबालब भर जायेगा तो वह छलकेगा और उस छलके हुए प्रेम की बूंदें उसके आसपास के प्राणियों पर पड़े बिना नहीं रह सकतीं। जब फूल खिलता है तो उसकी सुगन्धि अपने आप हवामें फैलने लगती है, जिससे मधु मक्खियां, तितलियां तथा भौंरों के समुदाय स्वयं उसे घेर लेते हैं। वह किसी के पास अपने खिलने का अपने रूप को देखने का निमन्त्रण नहीं भेजता। वह तो स्वभावतः अपनी मस्ती में खिलता है। लोगों को उसमें आनन्द आता है तो आवे।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण लिखी जिसे पढ़कर सभी लोग आनन्द से झूम उठते हैं, सुख की तरंगों में बहने लगते हैं। लेकिन उन्होंने रामायण में लिखकर स्वयं कह दिया है कि यह मैंने "स्वान्तः सुखाय" के लिये लिखा है।

उन्होंने दूसरे के लिये तो लिखा नहीं था पर लोग उसमें से जबर्दस्ती आनन्द ले लेते हैं, तो वह बेचारा फूल क्या करे, जिसके अपने अन्दरूनी क्रान्ति के फलस्वरूप वह खिलता है। यह आन्तरिक या अन्दरूनी क्रान्ति ही ईश्वर-प्रणिधान है। इसका उदाहरण पृथ्वी के सभी धर्मोंके साहित्य में देखने को मिलेगा। और जब कोई फूल खिलता है तो छिपाने से भी नहीं छिपता है। हिन्दी के प्रमुख कवि श्री रत्नाकर जी ने गोपियों का वर्णन जो श्रीकृष्ण वियोग में पड़ी थीं, कितना सुन्दर किया है। उद्धव जो श्रीकृष्ण का संदेश लेकर ब्रजमें आये हैं तो गोपियों की अवस्था देखिये—

भेजे मन भावन के उद्धव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवन में पावन जबै लगीं।
कहै रत्नाकर गुवालिन की झौरी-झौरी,
दौरी-दौरी नंद-पौरी आवन तबै लगीं।
उझकी उझकी पद कंजनी के पंजन पर,
पेखि पेखि पाती छाती छोहन छबै लगीं।
हमको लिख्यौ है कहा हमको लिख्यौहै कहा
हमको लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥

जब उद्धव जी उनको किसी प्रकार शान्त कर पाते हैं तथा निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं तो वे और दुःखी हो जाती हैं तथा उद्धवजी से हाथ जोड़कर कहती हैं—अपने इस ज्ञान के पत्थर से तुम मेरे मनके आइने को मत तोड़ो, क्योंकि इस आइनेमें मेरे मनमोहन की तस्वीर है। अगर यह कहीं टुकड़ा-टुकड़ा हो गया तो हर टुकड़े में मनमोहन की तस्वीर ही दिखाई पड़ेगी। जब एक ही मनमोहन ने हमारे मन में बसकर हमें उजाड़ दिया है तो हजारों मन-मोहन होने से हमारी क्या दशा होगी?

देखिये कवि के शब्दों में—

टूक-टूक ह्वैहै मन मुकुर हमारो यह,
चूकि हूँ कठोर बैन पाहन चलावो ना।
एक मनमोहन तो बसिके उजार्यो मोहि,
मन में अनेक मनमोहन बसावौं ना॥

यह अवस्था इष्ट के प्रति अतिशय श्रद्धा-भक्ति रखने पर स्वयं हो जाती है। इसके लिए चाहिए मन को आकृष्ट करने वाला इष्ट का स्वरूप। अगर किसी के मन को आकृष्ट करने वाला स्वरूप प्राप्त हो गया तो उसने जीवन में एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ कर लिया, क्योंकि मन उस रूप में हमेशा ही रमा रहेगा और धारणा की सीमा को पार कर ध्यान में प्रवेश करने लगेगा। हमारे धर्मों में इतने देवी-देवताओं के चरित्र वर्णन का यही उद्देश्य है कि मन किसी न किसी रूप में आकृष्ट हो जाय। लेकिन जो श्रद्धा किसी देवी-देवता इष्ट के प्रति होती है वह टिकाऊ नहीं होती है कारण कि किसी विद्वान् ने अगर उसकी समालोचना कर दी तो श्रद्धा को ठेस लगेगी और कार्य में बाधा पड़ेगी। अतः आवश्यकता है एक ऐसे व्यक्तित्व की, जिनमें हमारे मन को आकृष्ट कर लेने की क्षमता हो तो हमारा काम सरल हो जायेगा। उस व्यक्तित्व के सम्पर्क में रहने से ही श्रद्धा बलवती होगी तथा पुस्तकों में देवताओं के बारे में पढ़ी हुई श्रद्धा के मुकाबले अधिक फलवती होगी।

इसी सिलसिले में मुझे एक कहानी याद पड़ती है। कहीं हिमालय के पास कोई एक महात्मा रहते थे। उनके पास एक व्यक्ति आया और उसने दीक्षा लेने की प्रार्थना की। महात्मा ने उससे प्रश्न किया—क्या तुम्हारा मन संसार में किसी के प्रति आकृष्ट होता है? उसने कहा—महाराज! हमारे घर में एक भेड़ा है, वह मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। महात्मा ने आदेश दिया कि तुम इसी का ध्यान करो। उस व्यक्ति ने वैसा ही

☆ मन—आधा जड़, आधा चेतन ☆

❀ श्री बैजनाथ मेहरा

मन का जड़ अंश प्राण कहलाता है। अजड़ांश मन चैतन्य स्वरूप चित है। चित-शक्ति और स्पन्दन शक्ति (प्राण) का एकाकार होना ही मन है।

चित-शक्ति आत्मा की—स्पन्दन शक्ति प्राण की जो जड़ रूप है।

पंच महाभूत के सतोगुणी अंश से पंच ज्ञानेन्द्रिय है और पंच ज्ञानेन्द्रिय के सतगुणी अंश से अन्तःकरण है।

फिर अन्तःकरण वृत्ति को भेद से चार भागों में बांटा गया है। सङ्कल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम "मन" है।

संशय निश्चयात्मिका अन्तःकरण की वृत्ति का नाम "बुद्धि" है।

अनुसन्धानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम "चित्त" है।

अहंकारात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम "अहंकार" है।

मन इन्द्रियों का कर्ता है, परन्तु प्राणवायु के आधीन है। चैतन्य जब जड़ के आधीन होकर लीला करता है, तब जीव संज्ञा होती है। प्राणवायु स्थिर होने से चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त स्थिर होने से मन स्थिर हो जाता है और ज्ञान दृष्टि खुल जाती है।

ज्ञान दृष्टि खुलने से ही ब्रह्म या आत्म-दर्शन होता है। ये मन परमात्मा का है जिसे लेकर ही ईश्वर सृष्टि, स्थिति व लय कर रहा है। मन को रोकना ही एकमात्र साधना

(पिछले पृष्ठ का शेष)

करना शुरू कर दिया। कुछ दिनों के बाद जब महात्मा जी कुटिया में गये तो वह भेड़ों के ध्यान में ही डूबा हुआ था यहां तक कि उसके सिर पर भेड़ें जैसे सींग निकल आये थे। महात्मा ने उसे आशीर्वाद देकर कहा—बेटा! तुम अब सिद्ध हो गये हो, तुम्हें ध्यान की कला आ गई। अब तुम इस कला के द्वारा किसी का भी ध्यान करके उसके साथ तदाकार होकर उसकी सारी शक्तियोंके अधिकारी बन सकते हो।

अन्त में पतंजलिदेव की "या दृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी" को पुनः चिन्तित करते हुए लेखनी को विराम दे रहा हूँ।

—××—

वाजपेय विद्या

डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

वैदिक स्वाध्याय और विमर्श की प्रणाली का इस काल में बहुत लोप हो गया है। जब से लोगों ने वेद के शब्दों पर विचार करना बन्द कर दिया, तब से उनके विचार रूढ़ियों के मुहताज हो गये। जिस देश में निरुक्त का प्रचलन रहता है, वहां विचारों की पराधीनता आ नहीं सकती। जब हम शब्द के मूल स्वरूप को देखते हैं, तो हमारी कल्पना तुरन्त व्यापक रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिये वैदिक 'वृष' शब्द को लीजिये। मूल शब्द में वर्षण क्रिया का भाव है। जहां-जहां सृष्टि में वृष्टि कर्म (केवल मेह अर्थात् आकाशस्थ पानी का बरसना ही वृष्टि शब्द से नहीं लेना चाहिये) पाया जायेगा, वहीं वृष धातु किसी न किसी रूप में आ सकती है। मेघ-वर्षण, रेत-निषिञ्चन आदि कर्म सब वृष धातु के किसी न किसी भाव से सम्बद्ध हैं। मूल में यही अवस्था थी। इसीलिये वृष के अर्थ भी अनेक हैं। जिन पदार्थों के अन्दर वर्षण सामर्थ्य प्रचुर मात्रा में पाई जाती थी

(पिछले पृष्ठ का शेष)

है। विभिन्न मतामत और पंथ होने पर भी सबकी परिणति एक ही है।

मन के रोकने से संसार रुक जाता है। मन को रोकना ही ब्रह्म की उपासना है और आत्मा का लाभ है।

दो उपाय से मन को रोका जा सकता है। मन के जड़ अंश (प्राण) को लुप्त करके और दूसरा चित्त को शमन करके। दोनों में से एक एक उपाय सिद्ध होने से मन का नाश हो जाता है। प्राण लुप्त होने से मनका नाश हो जाता है। चित्त शान्त होने से मन निराश हो जाता है।

मनोनाश चित्त की प्रबलता के शमन का उपाय और मनोनाश आत्म प्रतिष्ठा है। प्राण लुप्त होने से ब्रह्म प्रतिष्ठा होती है। मन का नाश होना ही साधना है।

मन जहां जल कर भस्म हो जाता है, उसी विभूतिपूर्ण स्थान श्मशान में भगवान् शङ्कर विभूति रमा कर निवास करते हैं।

मनोनाश का प्रथम उपाय है प्राण का रोकना।

न मौजे (लहर) न तूफां न मांझी न साहिल,
मगर मन की नैया बही जा रही है।
चला जा रहा है वफा का मुसाफिर,
जिधर भी तमन्ना लिये जा रही है॥
कहा मैंने ये धमकियां,
दीजिये जाहिद परस्तों को।
जो आशिके साहब है,
वो फांदकर दीवार आता है॥

—×—

वहीं वृष शब्द प्रयुक्त होने लगा। उसका अर्थ वीर्य सम्पन्न पुरुष से है। बैल भी वृष शक्ति का भण्डार है, इसलिए उसे भी वृष कहते हैं। इसी तरह काम, मेघ इनको भी वृष संज्ञा हुई, परन्तु कालान्तर में वृष बैल के लिए रूढ़ि हो गया। अब वैदिक काल से सहस्रों दूर पड़े हुए हम लोग जब वृष शब्द सुनते हैं, तब हमारे मन में सबसे पहले बैल का ध्यान आता है। कुछ विद्वान् शब्द-शास्त्र और भाषा-विज्ञान की खोज तो करते हैं, परन्तु वैदिक अर्थों से उससे यथोचित लाभ नहीं उठाते, वे सारे शब्दगत अर्थों के विकास को भूल जाते हैं। वृष शब्द का जो अर्थ उन्हें वेद के समय में उपलब्ध होता है, उसकी उपेक्षा करके वे आधुनिक शताब्दी में ही बैठकर उसके बैल रूप लौकिक अर्थ को लेते हैं। यही कारण है कि पश्चिम के प्रख्यात वैदिक पण्डितों ने भी इन्द्र के लिए 'वृषभो रोरुवीति' पद का अर्थ (Indra the great roaring Bull) अर्थात् 'इन्द्र बहुत रम्भाने वाला बैल' ऐसा किया है। वैदिक पाण्डित्य के इतिहास में इतनी भयंकर भूल शायद ही दूसरी हो। इसी प्रकार अन्य वैदिक शब्दोंका विस्मरण हो रहा है। न हम ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित अर्थों को देखते हैं और न वैदिक मन्त्रों की ही तुलना करते हैं और न कभी सोचते हैं कि अमुक शब्दों के जो लोकरूढ़ अर्थ हमने जान रखे हैं, उनके अतिरिक्त और भी कुछ अर्थ हो सकते हैं या नहीं।

वाजपेय क्या है ?

वाजपेय शब्द में वाज को एक पेय पदार्थ कहा गया है। वह क्या चीज है, कैसे वाज पिया जाता है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना वाजपेय-विद्या के रहस्य को समझने के लिए आवश्यक है। वस्तुतः पुराकाल में वाजपेयी परिवार या गोत्र वे ही थे जिनके पूर्वजों ने वाज-विद्या के महत्व का आविष्कार किया था और जिनमें वाज पीने के रहस्य और विधियों परम्परा से लोग बराबर जानते आये थे। प्रत्येक देश में वाजपेयी होते हैं और जहाँ के समाज में वाज पीने का मर्म स्वयं जानने वाले और नवयुवकोंको उसे बताने वाले पुरुषों का अभाव हो जाता है, उस समाज में निर्बलता आ जाती है, वहीं ब्रह्मचर्य का अभाव हो जाता है। ऐसा इस समय भारतवर्ष में हो रहा है, क्योंकि वाजपेय के रहस्य को जानने वालों का यहाँ अभाव हो गया है। इसी लिये हमारे यहाँ के किशोर अवस्था को प्राप्त युवा (Adolescent young men) निस्तेज होते जाते हैं, क्योंकि उचित समय पर उन्हें अपने वाज-वीर्य या शक्ति को भीतर ही भीतर पान कर जाने की शिक्षा देने वाला कोई नहीं है। वाजपेयी पुरुषों का अस्तित्व समाज-हित की दृष्टि से प्रकृति-सिद्ध है। उन्हें एक बड़ा काम करना है। युवावस्था वाजपेय-यज्ञ का युग है, पर अब इस विद्या का रहस्य न माता-पिता ही बताते हैं, न आचार्य, न कुल-पुरोहित तथा कुल-वैद्य ही।

आयुर्वेद का प्रमुख सिद्धान्त है कि रोग को दूर करने की अपेक्षा उसको आने ही न देना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। आयुर्वेद में जिस वाजीकरण-विज्ञान की चर्चा है, वह उनके लिए है, जो शक्ति को खो बैठे हैं। वाजीकरण-तन्त्र सुश्रुत के अन्दर आठवां तन्त्र है। वाजीकरण शब्द में जो 'च्वि' प्रत्यय है, वही यह बतलाता है कि जहां वाज नहीं रह गया है वहां पुनः वाज की प्रतिष्ठा कर देना वाजीकरण का उद्देश्य है। व्याकरण जानने वाले "अभूततद्भावे च्वि" के अर्थ को जानते हैं। अवाजः औषधादिना वाज क्रियते इति वाजी क्रियते, अर्थात् वाज-शून्य पदार्थ जब औषधादि से वाज सम्पन्न किया जाता है, उसी का नाम वाजीकरण है। जो औषधि, पाक और रस इसमें सहायक होते हैं, वे सब वाजीकरण प्रयोग कहलाते हैं। वाज और वृष (काम) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वृष शक्ति के रीते हो जाने से ही मनुष्य वाज-शून्य हो जाता है, इसीलिये वृष्य प्रयोग ही वाजीकरण भी है।

'वृष' और 'वाज' का सम्बन्ध जानने से कुछ आभास मिलता है कि वाज क्या है। परन्तु वृष्य शक्ति वाज का एक रूप मात्र है। वाज का व्यापक अर्थ और भी अधिक है। वाज शब्द वज् धातुमें घञ् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। वज् धातु का अर्थ है गति करना। वाज का अर्थ है स्फूर्ति, रय, वेग, शक्ति, प्राण वीर्य आदि। 'वज' का ही अक्षर-विपर्यय से 'जव' हो जाता है। जव का अर्थ वेग है। घोड़े को वाजी कहते हैं, क्योंकि उसमें बल और वेग है। चिड़ियों के पङ्ख को तथा तीर के पुङ्ख को भी वाज कहने लगे हैं, क्योंकि इन दोनों में भी फुरती पाई जाती है। किन्तु जैसे वृष या वृषभ पद बैल के अर्थ में रूढ़ हो गया है, वैसे ही वाजी घोड़े के अर्थ में भी। यहां भी योरोपीय विद्वान् इन्द्र को बैल बताने की भी भूल करते हैं। उषः सूक्त में पहले ही यों कहा है—

उषो वाजेन वाजिनि।

अर्थात् उषा वाज से वाजिनी है। इसका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

The Goddes Of Dawn having fleet horses.

अर्थात्—उषा तेज घोड़ों वाली है। यहां उषा को वाजिनीवती कहा है, वहां अर्थ हो जाता है कि उषा घोड़ियों वाली है। पर ऐसा कहने से पूर्व सोचना चाहिए कि क्या वाजी का कुछ और भी अर्थ है? क्या जन्म से वाजी शब्द घोड़ेके लिए रूढ़ हो गया था?

सत्य यह है कि जिस ऋषि ने उषा को वाज से वाजिनी कहा है उसने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व की ओर संकेत किया है। वह उषा को देखता है। जो सबसे पहली बात उसका ध्यान खींचती है, वह उषा के अन्दर भरा हुआ अमित प्राण है। सभी को

वह प्राण जीवन देने वाली है। उषा नित्य उस वाज को द्युलोक और पृथ्वी के उदर में भर देती है, पर उसका कोष-संचय अक्षय है, उषा के अन्दर इतना वाज है, इतनी प्राण-शक्ति और प्रेरणा है कि समस्त लोक उसके आगमन से चैतन्य लाभ करते हैं। इसीलिये कवि ने उषा को सम्बोधित करके कहा है—

पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिः

सृष्टि के आदि काल से उषा है। कौन जानता है कि वह कितनी पुरानी है? उससे आयु में तुलना करने वाला और कोई नहीं, फिर भी उसमें जरा का चिह्न नहीं है। वह सदा युवती है। इसका कारण यह है कि उषा प्रचेत है, वह जागती रहती है। तन्द्रा अस्वास्थ्य का लक्षण और जागना स्वास्थ्य का चिह्न है। He who is awide awake even whilst asleep is truly healthy. अर्थात् सोते समय भी जो जागरूक बना रहता है, वही सचमुच स्वस्थ है (म० गांधी)। ऋषि ने भी उषा को वाजिनी कहकर सुतरां प्रचेत कहा है—

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।

अर्थात्—हे अनन्त ऐश्वर्यशाली उषे! तुम वाज से वाजिनी हो, क्योंकि तुम प्रचेत हो। इसलिये मैं जिस गान को गाता हूँ, तुम उसको सुनो।

जो मनुष्य प्रचेत रहते हैं अर्थात् जिनका मन (subconscious mind) भी जागता रहता है, वे ही अपने किये हुए सङ्कल्पों को पूरी तरह सुनते हैं, एक बार सुनकर फिर नहीं भूलते। तन्द्रा में भरे हुए आदमी दिन-रात में न जाने कितने सङ्कल्प करते हैं, परन्तु अपनी कही हुई बात को वे स्वयं ही नहीं सुनते।

'वाज' के अन्दर सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रेरणा और शक्ति आ जाती है। अध्यात्म वाजपेय उस कृत्य का नाम है, जिसमें मनुष्य वाज को अपना पेय कल्पित करता है। किशोरावस्था के आरम्भ में देह के भीतर एक विलक्षण प्रकार का रस बनने लगता है, इसी का नाम वीर्य है, इसे ही वाज भी कहते हैं। यथा—

वीर्यं वै वाजः।

—शतपथ ब्राह्मण ३/९-४-७

इसे भीतर ही भीतर पचाने का नाम वाजपान है। प्रत्येक ब्रह्मचारी को वाजपेय होना चाहिये। पिया हुआ वाज अमृत बनकर अमरपन देता है, अर्थात् शरीर के प्रत्येक घटक-कोष (Cell) में अमृत बहने लगता है, उनकी चेतना असीम हो जाती है।

शरीर के अन्दर जो भौतिक सामर्थ्य है, वह सब अन्न से प्राप्त होती है। "अन्नाद्वै रेतसः पुरुषः" यह क्रम उपनिषदों में भी पाया जाता है। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कितनी ही जगह अन्न को भी वाज कहा गया है। यथा—

अन्नं वै वाजः।

—शतपथ ५/१-४-३

महापुरुषों के जीवन-प्रसंग—

मनोनिग्रह के आदर्श—तपस्वी शेरफिन

❀ श्री अविनाशी महाराज

महात्मा शेरफिन रूसी महात्माओं में विशिष्ट स्थान रखते थे। वे तितिक्षा, वैराग्य विनम्रता और तपस्या तथा सहनशीलता के धनी थे। उन्होंने रूस के एक धार्मिक परिवार में सन् १७५९ ई० में जन्म लिया था। उन्नीस साल की अवस्था में उन्होंने सारव मठ में प्रवेशकर विनम्रतापूर्वक साधारण से साधारण कार्य—भोजन बनाने, लकड़ी काटकर लाने तथा पानी भरने के काम से अपना वैराग्य सुदृढ़ किया। आज्ञा-पालन उनके जीवन का सबसे बड़ा सद्गुण था। वे जीवन भर मठ में निवास करते रहे।

उनके जीवन का एक प्रसङ्ग है, जिससे उनकी सहनशीलता के अभ्यासका पता चलता है। वे ध्यान में तल्लीन थे, शान्त थे। इतने में जान नाम के एक नव-दीक्षित व्यक्ति ने उनका अभिवादन किया।

'मैं हाथों में जंजीर बांधना चाहता हूँ, शरीर पर केवल जानवर के बाल से बना एक पहिनावा रखना चाहता हूँ, मुझे आशीर्वाद

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ओषधयः खलु वै वाजः।

—तै० ब्रा० १/३-७-१

अन्नं वै वाजपेयः।

—तै० १/३/२/६

इसी प्रकार व्यापक दृष्टि से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, इन्द्र, ऋतु, पशु इनको भी वाजी कहा गया है।

ऋतवो वै वाजिनः।

—कौ० ब्रा० ५/२

इन सब में अपने-अपने प्राकृतिक तेज के संरक्षण की सामर्थ्य है; इससे ये वाजी कहे जा सकते हैं।

वाजपेय यज्ञ में केत शुद्धि और मधुमती वाक् की बड़ी आवश्यकता है। केत नाम ज्ञान या बुद्धि का है। 'कित ज्ञाने' धातु से केत बनता है। 'केतपू' जो दिव्य गन्धर्व है, वह हमारे ज्ञानकी शुद्धि करे, पुराने सब कुसंस्कारों को मिटावे तथा वाचस्पति-बृहस्पति वाक् को मधुर करे। वाज की उपासना को वाजसनि कहते हैं (सनि-पूजा, उपासना)। वाजकी सनि अर्थात् उपासना में जो चतुर हो वह वाजसनेय कहलाता है। याज्ञवल्क्य इस देश के बड़े भारी वाजसनेयी हुए हैं। ❀

दीजिये कि मैं अपने व्रतका पालन कर सकूँ।' जान ने अपने मनका उत्कट वैराग्य-भाव व्यक्त किया।

'मठ में निवास करने वाली तपस्विनी युवतियाँ मेरे पास आकर बाल से बने कपड़े और जंजीर पहनने का आशीर्वाद माँगती हैं। क्या यह उन लोगोंके लिए ठीक है?' शेरफिन ने अपने प्रश्न से जान को विस्मित कर दिया, संत की बात समझ में नहीं आई जान के।

'मुझे तो आपके आशीर्वाद की ही भूख है।' जान ने प्रार्थना की।

'जब तक मन संयमित न हो जाय, सहनशीलता और तितिक्षा का दृढ़ अभ्यास न हो जाय, तब तक वैराग्य का उदय नहीं होता। मनुष्य सत्कर्म के पथ पर इनके बिना नहीं चल सकता, जीवन में सदाचार और मनोनिग्रह की बड़ी आवश्यकता है।' शेरफिन ने जान पर कृपा-दृष्टि की।

'आशीर्वाद दीजिये।' शेरफिन ने जान ऐंठ कर कहा कि बाहरी वेष भूषा कुछ भी महत्व नहीं रखती। जान शेरफिन के अद्भुत आचरण से चकित हो उठा।

'देखो! यदि तुम्हें कोई कनेठी लगाये तो समझना चाहिए कि यह सबसे बड़ी जंजीर है, आध्यात्मिकता के लिये। इससे जीवन संयत और पवित्र होता है, यह जंजीर लोहे की जंजीर से कहीं अधिक गुणकारी है। इससे मन बँध जाता है, शरीर वश में हो जाता है। जबकि जंजीर से केवल कुछ अङ्गों को वश में किया जा सकता है।' शेरफिन ने यह कह कर स्नेह प्रकट किया।

वे जान की ओर बढ़े, ऐसा हाव-भाव प्रकट किया मानो उसके चेहरे पर थूकना चाहते हैं।

'देखो! यदि कोई तुम्हारे मुँह पर इस तरह थूकता है तो इसे सबसे अच्छा पहिनावा समझना चाहिये। अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक इस पहिनावे का अभ्यास करना चाहिये। इससे मन में सहज दैन्य का उदय होता है। इन बातों से जीवन वास्तविक मनोनिग्रह की शक्ति से भर जाता है। तप का फल है मनोनिग्रह की प्राप्ति।' शेरफिन ने जान को सावधान किया। उसे सदाचार का ज्ञान हो गया, तप की शक्ति का पता चल गया। सन्त शेरफिन ने उसे सहनशीलता को अपनाने की सीख दी।

☼

विचारहीन व्यक्ति ही धन को अपना बताता है और वह "मेरा धन, मेरा धन" कहते हुए मर भी जाता है। उसके बाद उसका लड़का भी "मेरा धन, मेरा धन" करते-करते मर जाता है। इसी प्रकार हर मनुष्य "मेरा धन, मेरा धन" चिल्लाते हुए मर जाता है और फिर उसके धनपर दूसरा अधिकार कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धनपर व्यक्ति का स्वामित्व हो ही नहीं सकता। तब स्वामित्व किसका है? उत्तर है कि व्यक्ति समाजकी इकाई है और वह समाज शाश्वत रहने वाला है इसलिये वह धन समाज का ही धन है। —स्नु

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(चरक प्रोक्तः)

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

सत्व (चित्त, मन) आत्मा और शरीर ये तीनों त्रिदण्ड अर्थात् घड़ा रखने के लिए तीन पाये की बनी 'तिकटी' के समान हैं। इन तीनों के संयोग होने से यह लोक अर्थात् चर या जंगम प्राणि-समूह स्थित है। समस्त वस्तुएँ, कर्मफल, सुख, दुःख, ज्ञान, मोह, राग, द्वेष, जीवन, मरण आदि सब बातें इसी इसी लोक में आश्रित हैं।

× × ×

स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य, तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ॥

यह पुरुष है, यही चेतन तत्त्व है, जिसमें सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों हैं, यही इस आयुर्वेद तन्त्र का अधिकरण अर्थात् आश्रय है, क्योंकि इसके लिये ही आयुर्वेद प्रकाशित हुआ है।

× × ×

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥

इन्द्रियाँ, आत्मा, मन, काल और दिशायें ये इतने द्रव्य हैं। यह इतने प्रकार के हैं, एक 'चेतन' जिनमें इन्द्रियों का योग है, दूसरे 'अचेतन' जिनमें इन्द्रियों का योग नहीं है।

× × ×

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः ।
गुणाः प्रोक्ताः प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ॥

अर्थ अर्थात् इन्द्रियगोचर विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनके सहित गुरु आदि अर्थात् गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र और बुद्धि (ज्ञान, स्मृति, चेतना,

अहङ्कार आदि) और पर से लेकर प्रयत्न तक अर्थात् परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार, अभ्यास ये सब गुण हैं।

× × ×

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः॥

भूमि आदि द्रव्यों का गुणों से पृथक् न रहना 'समवाय' माना गया है। वह नित्य सम्बन्ध है। इसलिये जहाँ द्रव्य नित्य है, वहाँ गुण अनित्य नहीं हो सकता।

× × ×

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्।
तद्द्रव्यं समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः॥

कर्म और गुण जिसमें आश्रित हैं वह समवायिकारण है। वह द्रव्य ही होता है।

× × ×

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितं।
कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥

कर्म संयोग और वियोग में कारण है और द्रव्य में आश्रित रहता है। करने योग्य पदार्थ की क्रिया 'कर्म' ही है। यह कर्म संयोग वियोग उत्पन्न करने में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता।

× × ×

इत्युक्तं कारणं कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्॥

इस प्रकार कारणों का विवेचन हो गया आयुर्वेद में उक्त सामान्य आदि छहों कारणों का कार्य 'धातुसाम्य' अर्थात् धातुओं की समता बनाना ही बतलाता है। इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन वात, पित्त, कफ या मांस, मेद असृक् (रुधिर) शुक्र आदि धातुओं में समता रखने का उपदेश करना ही है।

× × ×

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः॥

काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थ अर्थात् इन्द्रियों के ग्राह्य विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन तीनों का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग ये तीन ही कारण मन और शरीर में आश्रित रोगों का कारण है।

त्याग और वैराग्य का भेद

ले० श्री ब्रह्मचारी जगन्नाथ

किसी भी पदार्थ को त्यागा जाता है, निश्चित रूप से उसे दुःखदायी समझकर या उसमें सुख से अधिक दुःख की मात्रा देखकर अथवा सुख का सर्वथा अभाव हो तब। यह सामयिक-त्याग अधकचरे-ज्ञान के आधार पर हुआ करता है, जिससे पदार्थों तथा विषयों में पुनरासक्ति या पतन की प्रायः सम्भावना बनी रहती है। इतना ही नहीं, अपितु यह सामयिक त्याग पतन का कारण बन ही जाता है, तभी तो मनुष्य किसी त्यक्त-पदार्थ को पुनः जा पकड़ता है, जैसे—उदर पीड़ा, अपच आदि में परित्यक्त पकवान्न-मिष्टान्न आदि गरिष्ट आहार को पीड़ा आदि के हटते ही तुरन्त पुनः खाने लगता है—अथवा मुख में छाले पड़ जाने पर छोड़ दिये गये चटपटे पदार्थों को स्वस्थ होते ही पुनः सेवन करने लगता है। इस प्रकार किसी भी अनुपस्थित कारणवश अथवा परिस्थितिजन्य प्रेरणावश किसी पदार्थ से सामयिक निवृत्ति पा लेना 'त्याग' कहा जाता है। परन्तु लगातार की जाती विचार-परम्परा तथा स्व-कष्टानुभूति के आधार पर प्राप्त हो जाने वाले 'यथार्थ-बोध' द्वारा पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ त्याग 'वैराग्य' का रूप धारण कर लेता है। 'वैराग्य' तो ज्ञान की पराकाष्ठा का परिणाम होता है और 'त्याग' अर्धज्ञान का परिणाम। जो कष्टानुभूति हमें पूर्व हो चुकी है—इस समय पदे-पदे हो रही है और भविष्य में भी होगी। उस पर ध्यान देते हुए 'परिशुद्ध-स्मृति' के आधार पर होने वाला ज्ञान 'यथार्थ-बोध' है, जैसे चमचमाते सुन्दर लगते अङ्गारों को अनजान सुख-बुद्धि से पकड़ लेने वाला शिशु एक बार हाथ जल जाने पर पुनः आजीवन स्वप्न तक में अङ्गारों के स्पर्श तक से भय खाता रहेगा—भय खाता रहता है यह जानता है कि—अग्नि में डाला हाथ इस समय भी जला है—यह प्रत्यक्ष है। भविष्य में भी जलेगा ही—यह अनुमान है। ऐसी यथार्थ अनुभूति—'बोध' हो जाने के पश्चात् मनुष्य कभी उस ओर अभिमुख नहीं होता—नहीं होगा—स्वप्न तक में भी। यही भेद है त्याग और परम वैराग्य में। 'अर्धज्ञान' सामयिक त्याग तो करा देता है, उससे कुछ काल के लिए दुःख टल भी जाता है, परन्तु उस विषय में बना सूक्ष्म राग पुनः उस पदार्थ को ग्रहण करने की प्रेरणा करता रहता है और 'परिशुद्ध स्मृति' के अभाव में मनुष्य सुख की भ्रान्ति से उसे छोड़ता-पकड़ता हुआ कष्ट-परम्परा से मुक्त नहीं हो पाता, परन्तु तर्क-विचार-अनुभूति

के आधार पर परित्यक्त पदार्थ अथवा किसी विषय की ओर पुनः प्रवृत्ति होती ही नहीं। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'—योग २-१५ सूत्रोक्त सत्य की परख 'प्रत्यक्ष-अनुभव' से होती है। (सिद्धान्ततः सृष्टि में किसी पदार्थ का त्रिकाल में भी अत्यन्ताभाव होता ही नहीं, सांख्य-दर्शन १-११८ सूत्र का प्रमाण देकर उसका यह मत हम पिछले किसी लेख में व्यक्त कर आये हैं) उक्त सांख्य सिद्धान्त के आधार पर सुखका नितान्त अभाव नहीं है उन विषयों तथा पदार्थों में विद्यमान लीन-सुखांश भी सत्वगुण की विद्यमानता से है और यह रजस-तमस से उत्पन्न कष्ट से आक्रान्त या मिश्रित होकर इतना विकृत हो गया होता है कि ग्राह्य होने के स्थान पर 'हेय-पक्ष' में आ पड़ता है, जैसे क्षार व लवण की अत्यधिकता के कारण समुद्रों की विपुल जल-राशि में छिपा क्षीण-मिष्ठान्न भी 'हेय-पक्ष' में आकर सर्वथा अग्राह्य ही हो गया है। यह स्पष्ट है कि पञ्च-भौतिक पदार्थों में गुणों के तारतम्य से 'सद्रूप-सुख' अर्थात् 'आत्मानन्द' का लेश भी नहीं है, अतः 'सांसारिक-खान पान-विषय-कर्म आदि' सुख-रहित होने से, प्राप्ति-सेवन-संरक्षण तथा वियोग द्वारा सदा दुःख ही उत्पन्न करते हैं। वैसे तो सभी विषय तथा पदार्थ समान रूप से दुःखदायी हैं, परन्तु उनमें 'सूक्ष्म-स्थूल'-पंच-तन्मात्र कृत न्यूनता-अधिकता के प्रभाव से कोई पदार्थ तथा विषय स्व-स्वभाव—सात्त्विक आदि प्रकृति के अनुसार किसी को अधिक प्रिय लगता है किसी को कम।

त्याग और वैराग्य के विषय में सिद्ध-योगियों का कहना है कि—कच्ची अवस्था में घर को त्याग देना भीरुता है। जो वीर रण-क्षेत्र में डटा रहकर शत्रु पर विजय प्राप्त कर चुका हो—वैराग्य पा चुका हो—उसे जंगल में रहने से ही आनन्द मिलता है। 'जब तक मन से संसार न त्यागा जाय, तब तक (घर-बार, जग) छोड़ना नहीं चाहिए। त्यागना तब चाहिए जब ऐसा अनुभव (वैराग्य द्वारा निश्चय) हो जाय फिर उधर लौट जाने को चित्त व्यग्र न होगा।' ऐसा अनुभव में आ चुका है कि वैराग्य हुए बिना अभ्यासमें प्रगति होना और बहुत पुरुषार्थ करना निरर्थक होता है। थोड़ी दूर तक तो धक्के से गाड़ी चलती है, पीछे 'वैराग्य' के अभाव में प्रगति रुक जाती है। यदि प्रथम ही वैराग्य प्राप्त करने में पुरुषार्थ किया जाय तो बहुत लाभ हो। 'अभ्यास-वैराग्याभ्याम् तत्त्वसिद्धिः' सूत्र पर विचारने से यही निश्चय होता है कि वैराग्य के बिना कल्याण नहीं हो सकता। रोग-दुर्बलता आदि के समय दूसरे अभ्यास बन्द हो जाते हैं तब वैराग्य ही सहारा देता है तथा वैराग्य पुष्ट भी होता जाता है। विषयमें सुख है ही नहीं तो उसे प्रथम ही त्याग देना चाहिए। जो वैराग्य दुःख से रोग से मृतक के देखने से होता है वह वैराग्य नहीं—क्षोभ है।

"ज्ञानी को वैराग्य होता है—पर क्रोध-मोह नहीं होता। वैराग्य से ही परमशान्ति मिल सकती है। वैराग्य सत्य को ग्रहण और असत्य का त्याग करने से प्राप्त होता है।" काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार को सर्वथा त्याग देने से ही वैराग्य-सिद्धि होती है। "विषय-दोष दर्शन के अभ्यास से वैराग्य का उदय होता है।" मोक्ष मार्ग के लिए पहले 'बल' उत्पन्न करो, जो 'त्याग' से धीरे-धीरे उत्पन्न होता है और 'विवेक से बढ़कर वैराग्य से पुष्ट होता है।' संसार दुःख से छूटने के लिये वैराग्य की बड़ी आवश्यकता है। 'हमने क्या त्याग किया है, दुःखमें तो पशु-पक्षी भी भागते हैं, मच्छरों के मारे स्थान से गाय-भैंस भी भाग जाती है। यदि हमने भी दुःखकर समझकर संसार को त्याग को त्याग दिया तो इसमें क्या वीरता हुई?' वैराग्य उत्पन्न करो और उसे बढ़ाओ। "वस्तु के बीच बहुत लाभ को देखने से संसार में राग बढ़ा है, अब दोष-दर्शन से ही राग छूटेगा। वैराग्य ही सबसे मुख्य है, इसके बिना कुछ नहीं बन सकता। पूर्ण वैराग्य से ही परम शान्ति मिल सकती है। भजन का राग भी छोड़ना होगा, जब तक नहीं छूटता, इसके निमित्त भी दीन बन कर दुःख सहते रहो। विषय वासनाओं को समूल नष्ट कर देना (परम वैराग्य प्राप्त कर लेना) ही परम आवश्यक है, शेष सभी झगड़े आप ही मिट जाते हैं। "वैराग्य सब अभ्यासों से बढ़कर है और कल्याण करने वाला है। अतः वैराग्य वृद्धि करो।

—卐 निर्विकल्प समाधि 卐—

प्रगाढ़ निद्रा में मन सर्वथा निष्क्रिय रहता है। सविकल्प समाधि में विषय तथा विषयी का अन्तर बना रहता है। उस अवस्था में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों की प्रतीति होती है। ध्याता यह अनुभव करता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। जब वह ध्यान में इतना लीन हो जाता है कि यह प्रतीति नहीं रहती अर्थात् ध्याता और ध्येय एक भासने लगते हैं तो वह निर्विकल्प समाधि की अवस्था होती है। उस दशा में सचित्त आत्मा ध्येय में लीन हो जाता है और उस ब्रह्म का साक्षात्कार करता है जिसके विषय में वेद में कहा है कि कामना रहित और अमर स्वयं अपनी सत्ता में विद्यमान, आनन्द से आप्लावित सब तरह से पूर्ण है। उस धीर अजर-अमर सदा एकरस रहने वाले आनन्दस्वरूप को जानने वाला कभी मृत्युसे नहीं डरता, किंतु इस अवस्थामें भी ध्याता जीवात्मा ध्येय परमात्मा और जगत की सत्ता बराबर बनी रहती है। ध्याता न रहे तो समाधि किसलिए? ध्येय न रहे तो समाधि में ध्यान किसका? और ध्यान न रहे तो ध्येय कैसे पावें? पर ध्यान करते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार (ध्यान के रहते हुए भी) प्रतीति न होने को ही योग-दर्शन में 'स्वरूप शून्यमिव (३-३) स्वरूप शून्य के समान कहा है —स्वामी शिवानंद

बोध-कथा—

निष्काम कर्मयोग

जटा-जूटधारी एक साधु-महात्मा, काषाय वस्त्र इत्यादि धारण किये हुए बड़े जोर से "अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि" कहते हुए जङ्गल की ओर जा रहे थे। उसी जङ्गल की ओर एक किसान, जो अगोचरी मुद्रा (ऊपरी वेशभूषा से सामान्य जन जैसा दिखाई देने वाला) का योगी पुरुष था, खेत में काम करके अपनी बैलगाड़ी में बैठा जा रहा था। उस गाड़ीवान ने जङ्गल में रास्ते पर पड़ी एक सोने की अशरफी देखी, परन्तु उसने देखने पर भी उसे नहीं उठाया, आगे गाड़ी बढ़ा दी। जाते-जाते जब साधु जी की 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट सुनी तो उसे विचार आया, ब्रह्म को 'मैं ब्रह्म हूँ'—कहने की क्या जरूरत है। तब किसान ने भी 'अहं गाड़ीवान अस्मि, अहं गाड़ीवान अस्मि' ऐसा कहना आरम्भ कर दिया। यह सुनकर साधु जी को आश्चर्य हुआ। समीप आने पर साधु ने कहा—'ओ गँवार! तू गाड़ीवान तो है ही, फिर ऐसा क्यों पुकारता है?' किसान ने उसे उत्तर दिया—'तू स्वयं ब्रह्म है तो अहं ब्रह्मास्मि का जप करना निरर्थक नहीं तो और क्या है?'

साधुजी कुछ सँभले और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना छोड़कर दूसरे महावाक्य 'तत्वमसि' कहते हुए आगे बढ़े। गाड़ीवान समझ गया कि उन्हें अभी पूरा ज्ञान नहीं हुआ है। उसने साधुजी से कहा—जंगल की ओर न जाइये, राह में शेरनी बैठी है। उसे अनसुना करके साधु जो आगे बढ़े। यह समझकर कि ब्रह्म स्वरूप को डर किसका? 'तत्वमसि'।

गाड़ीवान ने अपने रास्ते पर आगे बढ़ते हुए सोचा—साधुजी को मूलभूत उपदेश की अभी आवश्यकता है। कुछ और आगे बढ़कर उसने गाड़ी-बैल एक वृक्ष से बाँध दिये। आगे रास्ते से आकर तुरन्त अशर्फी के पास ही एक झाड़ की आड़में छिपकर बैठ गया। थोड़ी देर साधुजी 'तत्वमसि' कहते हुए अशर्फी के स्थान पर आ गये, अशर्फी को देखा। आगे-पीछे देखने पर कोई मनुष्य न दिखाई पड़ा। बस, धन की लालच से साधु अशर्फी को लेने का यत्न करने लगे। सहसा गाड़ीवान वहाँ प्रकट हुआ और बोला—'बाबा! बाघिन खा गई?' साधु ठिठक गये और पूछा—"कैसे? उत्तर मिला, 'तत्वमसि' यह अशर्फी तो तुम स्वयं ही हो, अपने आपको क्या लेना?"

साधुजी निस्तब्ध होकर सहम गये। कुछ देर बाद वे होश सँभालकर बोले—'क्या इस अशर्फीको किसीको नहीं लेना चाहिए?' उत्तर में गाड़ीवान ने कहा—क्यों नहीं! इस अशर्फी को वह व्यक्ति ले सकता है, जो स्वयं अपने लिये न ले रहा हो, बल्कि प्रभु-कार्यार्थ ले रहा हो, वह निष्काम कर्म होगा। —श्री राघव

सद्गुरुदेव भगवान का

—● जन्मोत्सव-समारोह ●—

विजय दशमी २३ अक्टूबर १९८५ दिन बुधवार को गुरु-भाई श्री स्वामी प्रसादसिंह एडवोकेट के निवास-स्थान कछवा बाजार (मिर्जापुर) में मनाया जायगा। सभी से पधारने का अनुरोध है। —स्वागत-समिति

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्गुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

पुरुषार्थ

निरोध करना, शुभकर्म करना, शरीर की रक्षा करना, सत्संग करना यह सब पुरुषार्थ है और मिथ्या बुद्धि को हटाना भी पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ केवल परमार्थ के लिए है। संसारसे सम्बन्धित कर्म पुरुषार्थ नहीं कहा जाता; विवेक विचार, अभ्यास, शास्त्र-चिन्तन तथा सत्यकी ओर प्रयास करना, यही वास्तविक पुरुषार्थ है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए पुरुषार्थ होता है; शेष जितने सांसारिक कर्म हैं, सब प्रारब्धवश होते हैं। धनोपार्जन, विवाह, विद्या पढ़ना आदि प्रायः भोगवश होता रहता है। संसार में बुद्धिका कार्य अधिक होता है, इसीको ठीक करना परम-पुरुषार्थ है। बुद्धि जितनी ही शुद्ध होगी उतनी ही वह विवेक-विचार में लगेगी और विषयों में कम; जिनकी बुद्धि मन्द है, उनके लिए शास्त्र-सम्मत कर्म करना परमावश्यक है। फिर विवेकशीला बनी बुद्धि प्रत्येक दिशा में ठीक काम दे सकेगी। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानोपार्जन का ही काम लेना चाहिए, वे ज्ञान के साधन हैं जो केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए हैं।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विद्या' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा—1 फोन 63165